90

हिमवंत का एक कवि

शंभुप्रसाद बहुगुना

८११.८०६
शंभु/हि

अद्धेय डा॰ धीरेन्द्र वर्मा
को

हिमवंत का एक कवि

आलोचनार्थ अर्पित ।

श्री शंभुप्रसाद बहुगुना, हिन्दी अध्यापक
आइ॰ टी॰ कॉलेज, लखनऊ ।
६-११-'६५

डा० धीरेन्द्र वर्मा पुस्तक-संग्रह

शंभुप्रसाद बहुगुना
एम्॰ ए॰, डिप॰ साइ॰
लखनऊ

प्रकाशक
शंभुप्रसाद बहुगुना
घनानंद कालेज, मंसूरी

प्रकाशक : शंभुप्रसाद बहुगुना, घनानंद कालेज, मंसूरी

प्रथमबार सं० २००२
मूल्य १।)

मुद्रक : गिरिजाप्रसाद श्रीवास्तव, हिन्दी साहित्य प्रेस, प्रयाग

हिमवंत का एक कवि

श्रीचंद्रकुँवर बर्त्वाल

प्राकृतिक-सौंदर्य में तन्मयता

श्री चन्द्रकुँवर बर्त्वाल हिन्दी के उन तपस्वी कवियों में से हैं, जिन्होंने आरंभ से ही वनों के प्रसन्न वातावरण में हिमवंत के गिरिशिखरों पर प्रेम और करुणा के, सौंदर्य और कोमलता के अपूर्व मधुर गीत सरस्वती के विशाल मन्दिर में अथवा प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण में तथा भागीरथी के तीर के तपोवनों में गाये हैं। शांत स्वच्छ प्रेम की सरलता से पूर्ण, ये गीत मानव-हृदय को अपूर्व शांति और शीतलता देनेवाले निर्झर हैं, जो गिरि शिखरों से झर-झर कर देश की समभूमि में आकरमौन धारा के रूप में बहने लगते हैं, कोलाहल पूर्ण जन-समाज के बीच उन्हें कोई पहिचानता नहीं, पहिचानने की चेष्टा भी नहीं करता, किंतु वे अपनी कल्याणी धारा को निरंतर अप्रतिहत गति से बहाते ही रहते हैं। एक भी दिन, एक भी क्षण, एक भी पल मैं भी चन्द्रकुँवर बर्त्वाल के जीवन में ऐसा नहीं जानता जब उन्होंने कविता, प्रेम, करुणा और सौन्दर्य को भुला दिया हो और अपनी उपासना में व्यतिरेक होने दिया हो। सतत् निदिध्यासन से अपनी रचनाओं को संयमपूर्ण बनाने की श्लाघनीय वृत्ति श्री मैथिलीशरण जी गुप्त के अनंतर मुझे यदि किसी दूसरे हिंदी के कवि में दिखलाई दी तो श्री चन्द्रकुँवर बर्त्वाल में। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप ही श्री चन्द्र-कुँवर बर्त्वाल को अपनी कविताओं को सौंदर्य की प्रशंसनीय वस्तु बना देने में अपूर्व सफलता मिली है। यह सफलता प्रशंसनीय इसलिए है कि कुँवर की कलात्मक सृष्टि में हृदय की स्वाभाविक सजीवता का स्पंदन सदैव सुनाई देता है।

अमूर्त सौन्दर्य, जो निर्विकार रूप से हिमालय के असीम प्रसार में बिखरा पड़ा है श्री चन्द्रकुँवर के लिये केवल आश्चर्य, भ्रांति या हास का ही उद्दीपक नहीं, उनकी श्रद्धा और अर्चना की भी वस्तु है। अपनी 'हिमगिरि की माधुरी' के अंत में पर्वतराज की स्थिरि शांत मूर्ति को कई पहलुओं से देखकर भी उन्होंने केवल इतना कहकर संतोष कर लिया—

न जाने कितने शत जीवन, किए मैंने तुमको अर्पण
माधुरी मेरे हिमगिरि की

श्री चंद्रकुँवर ने सचमुच ही कई शत जीवन अपनी 'हिमगिरि की माधुरी' को अर्पण किए हैं। उनकी प्रायः सभी श्रेष्ठ प्रकृति संबंधिनी कविताओं में हिमालय, उसके

देवदारु और चीड़ के वन, उसके झरने, उसकी नदियाँ और उसकी माधुरी या इनकी छाया विद्यमान है। जिस किसी ने हिमवंत की सूर्यास्त-शोभा देखी है वह—

अंतिम, दिन-धन-शोभा, हिमशिखरों पर बिखरी

के सौंदर्य से मुग्ध होकर आनंद के लोक में पहुँच सकता है, किंतु जिसने न भी वह शोभा देखी हो वह इस पंक्ति के नाद-सौंदर्य में उसके दर्शन कर सकता है। जिसने प्रत्यक्ष अथवा गौण रूप से देवदारु के वनों को अथवा उसके वर्णन को कालिदास के 'कुमार-संभव' में न देखा हो उसके लिए चंद्रकुँवर की कविता उसे प्रस्तुत कर देती है।—

नीला देवदारु का वन है
छाया देख अकेली तल पर
हिलते तरुवर करते मर्मर-
हिमगिरि में निदाघ फैला है

खुरच रही हरिणियाँ वदन हैं
नीला देवदारु का वन है!

ग्वाले की वंशी-सा उठता
पर्वत चीर विमल जल गिरता
दर्पण फैला, किसलय वनकी—

परियों के लखता आनन है
नीला देवदारु का वन है!

जहाँ जरा-सा फैला समतल
जहाँ बिछी है दूर्वा कोमल
उस पर बैठी कृषक-कुमारी—

किसका यह करती चिन्तन है?
नीला देवदारु का वन है!

आधे ढके चमक से लोचन
घुटनों पर तिरछा है आनन
शिथिलित-भ्रू, बाहें मुड़ पीछे—

अलकों का बाँधे बंधन है
नीला देवदारु का वन है!

दूर कहीं गुञ्जार गूँजती
खग-बाला कोई न बोलती,
सूनी सड़क, अकेला पर्वत
छाया में कर रहा शयन है।
नीला देवदारु का वन है!

काँप उठा हरिणी का यौवन
हिलने लगा, उठा बाँहें, वन
मधुकर पीड़ित लतिका तल पर
किस का यह करती चिंतन है?
नीला देवदारु का वन है!

दूसरी कविताओं में भी जहाँ हिमालय अपने पूरे रंग के साथ नहीं है, वातावरण में एक विशेष प्रकार की विचित्रता है, जो पहाड़ों में रहने के कारण ही उत्पन्न हुई मालूम होती है। इस प्रकार का पूरा 'पर्वतीयपन' हमें पंत जी की 'भादों की झरन' में भी देखने को मिलता है। परंतु जहाँ पंत जी दृश्य चित्रणके द्वारा सामूहिक एकता को ही लक्ष्य मान कर चलते हैं, वहाँ श्री चंद्रकुँवर दृश्य की बारीकियों के साथ-साथ भावना का कुछ ऐसा अच्छा समन्वय करते हैं कि चित्र यथार्थ होते हुए भी अपने रंगों और अपने दृश्यों की सुन्दरता के लिये ही नहीं वरन् अपनी भावमयी आत्मा के कारण के कारण भी अधिक मनोरम हो जाता है। जिस किसी ने उनकी 'देहरादून' शीर्षक छोटी सी कविता पढ़ी हो वह निःसंकोच कह सकता है कि उसकी अंतिम पंक्ति—

है दूर सहस्र-धारा का जल
अब यहीं बिताओ दोपहरी।

ही सारी कविता का प्राण है। यह ठीक है कि इस पंक्ति में संकेत की मात्रा इतनी अधिक है कि देहरादून देखे बिना इसका पूरा-पूरा सौंदर्य ग्रहण कर पाना असंभव सा ही है। 'सहस्रधारा' देहरादून से नौ-दस मील की दूरी पर पहाड़ों के बीच टपकते हुए जल का एक बहुत ही सुन्दर प्रपात है।

तुम प्यासी; ऋषिपर्णा तट पर—
आमों की छाया प्रिय गहरी।

इन आमों की छाया से भी 'सहस्रधारा' का जल कहीं सुन्दर होता परंतु—

है दूर सहस्रधारा का जल
अब यहीं बिताओ दोपहरी।

थककर जैसे निराश-सी कवि की कल्पना देहरादून की शाल मेखला की छाँह में विश्राम करने लगती है[१]।

---

[१]देहरादून

(१)

हे शाल मेखले, किस गिरि से तुम इतना रूप लिये उतारी ?
दूर्वादल श्यामल तरुण सुमुख, कंपित नयनों में सुधा भरी !
घाटी में यहाँ फैलता है लावण्य तुम्हारा
(तुमपर) गिरि से टकरा मूर्छित होती कुहू-ध्वनि-धारा।
यह कुंज निराला यहाँ फूल खुल पड़ते;
इन चपल उँगुलियों के रहस्य-इंगित के द्वारा।
तुम प्यासी; ऋषिपर्णा तट पर आमों की छाया प्रिय गहरी,
है दूर सहस्रधारा का जल, अब यहीं बिताओ दोपहरी।

(२)

आई वसुधा में रितुरानी, चाँदनी गगन में आ निखरी।
इस लज्जित मुख पर चम्पक मुखि ! क्या स्वप्नमयी ज्योत्स्ना बिखरी !
अपने धानों के खेतों की पतली डालें,
पक कर झुकी हुई प्रसवोन्मुख पीली बालें,
देख रही तुम, हे शशि-मुखि ! चुपचाप अकेली,
भीनी-भीनी महक रहीं पर्वत की ढालें।
प्रमुदित होते हैं खग नभ में, मुदिता होती नरमयि नगरी,
तुम नई फसल का अन्न काट, खलिहान भर रहीं सुंदरी।

(३)

आगई चाय की अब मौसम, फूटने लगीं कोमल कोंपल
कंडी लटका कर मस्तक से, तुम चली बीनने ये नव-दल।
दिन भर तुम प्रशस्त बागों में रही बीनती
क्षण भर छाया में सुस्ता श्रमवारि पोंछती
गाढ़ हो गई जब यौवन-सन्नद्धा रजनी
लौटी तुम श्रम-बोझ से दबी घर को, गाती।

प्रकृति के साथ भावना का सुंदर गीतात्मक समन्वय श्री चंद्रकुँवर बर्त्वाल की सबसे बड़ी विशेषता है। 'ज्योति नागिनी',[1] 'प्रभात', 'सूरजमुखी,'[2] 'वसंत की दोपहरी',[3] 'देवदारु का वन'[4] आदि-आदि कविताओं में यह विशेषता अपने भव्यतम रूप में आई है। यहाँ इसी का एक उदाहरण 'संध्या' शीर्षक कविता है। कवि दिनांत देखता है। घने तम में दिन के सुनहले श्रोतों को खोते देखता है किंतु इस विषाद से उसके हृदय की शोभा मलिन नहीं हो जाती। वह संध्या को भी 'नभ में तारों के आलोक जगाती' आते देखता है। रात्रि का अंधकार इस आलोक की दीप्त शोभा में सुहावना हो जाता है, उसका भयावह रूप भी मनोहर हो जाता है, इसलिए संध्या के चित्रण में आनंद और सौंदर्य को ही कवि बिखेरता है। गौओं के झुण्डों के घर आते समय उनके खुरों से आकाश में उड़ती हुई धूल, डूबते सूर्य की स्वर्णिम किरणों से, सुवर्ण की उड़ती हुई सौंदर्यमयी धूल बन जाती है, जो मानों संध्या से स्वागतार्थ उससे आगे-आगे बिखरती जा रही है। आगे-आगे सोने की धूल उड़ती जा रही है पीछे-पीछे से संध्या अपने शीश पर दीपों की सुकुमार प्रभाएँ लिए विहगों की टोलियों और गौओं के झुण्डों सहित आ रही है—

"आज रात में क्या जाने, फूटेंगी कितनी नव-कोंपल"
तरु-तरु से फूट रहा यौवन, तरु-तरु से फूट रहीं कोंपल ॥

(४)

हे पग-पग प्रिय, पद-पद नूतन, हे चिर-युवती, अभिमान भरी,
इस मुख शोभा पर भौंरे से मँडलाते घन, हे रूप-परी।
केश-केसरी वायु प्रेम से हिला रहा है।
अपने यौवन के संदेश गिरि बहा रहा है;
दिवस तुम्हें घन-शाल-कुञ्ज में खोज रहे हैं,
चाँद, तुम्हें गिरि शृंगों पर रुक बुला रहा है;
तुम किन युद्धों की बात सोच पीड़त, गुरखों की छीनी श्री।
हे पग-पग प्रिय, क्षण-क्षण नूतन, हे चिर तरुणी अभिमान भरी ॥

---

[1]देखिए 'प्रभात' नवम्बर १९४२—'प्राकृतिक दृश्य का आध्यात्मिक चित्रण'।

[2]देखिए 'विशाल भारत'—१९४१ ई०

[3]इसी लेख में आगे उद्धृत है।

[4]इसी लेख में कविता पहिले आ चुकी है।

संध्या

आओ संध्या; शशि को ले; प्रिय को ले आओ
दूर पथों पर मुरली मधुर बजाती आओ।
विहगों की टोलियाँ; झुंड गौओं के लेकर,
पश्चिम से सोने की धूल उड़ाती आओ।
दीपों में सुकुमार प्रभा ले, सरिताओं में शोभा,
नभ में तारों के आलोक जगाती आओ।
मुकुलित कर पुष्पों के मुख कलरव नीरव कर।
शोभा में विपिनों के छोर डुबाती आओ।

घर लौटते ग्वाले की मधुर मुरली की सुरीली तान की भाँति ही इस गीत के मधुर स्वर हैं जो संध्या की सुकुमार प्रभाओं के दीपों ही की भाँति आलोकित हैं, स्वर्ण शोभा में डूबे हुए विपिनों के छोरों की भाँति सौम्य शांति से युक्त हैं।

श्री चंद्रकुँवर ने कभी स्नेहमयी प्रकृति को निष्प्राण अनुभव किया हो, ऐसा हमें याद नहीं। माँ की वात्सल्य-शीतल गोद में लेटे हुए कवि ने सदा ही उसके समीपस्थ हृदय के स्पन्दन को साफ-साफ सुना है। उसके प्रकृति-वर्णन में यदि कहीं अगति की भावना है तो वह केवल ऐसे स्थलों पर जहाँ वातावरण की उदासीनता से गति और कर्म दोनों आच्छादित हो जाते हैं और रह जाती है सिर्फ एक मूक सी झींगुर की झनकार। 'वसन्त की दोपहरी' में तरुण चीड़ के पेड़ चुपचाप खड़े हैं। अपने चरणों को कोमलतम आतप के नीचे फैलाकर पृथ्वी नयन मुकुलित कर नए मधु के पत्तों के नीचे चुपचाप पड़ी है। विश्व स्तब्ध है, केवल कभी-कभी मधुमक्खी नीले-पीले फूलों पर गूंज कर चली जाती हैं। ऐसे सुनसान समय में, शायद भूल के मद-विह्वल होकर कोई पक्षी एकाएक बोल उठता है, क्षण भर के लिए। और फिर वही उदास अलसता वापिस आ जाती है।

है वसंत की दोपहरी, चुपचाप खड़े हैं—
तरुण चीड़ के पेड़, नयन मुकुलित कर पृथ्वी—
पड़ी हुई है, नये मधु के पत्रों की—
विरल और कोमल छाया में, निज चरणों को
फैला कोमलतम आतप के नीचे सुंदर—
स्तब्ध विश्व है, कभी-कभी केवल मधुमक्खी
गूँज चली जाती है, फूली पीली सरसों—
के सुवर्ण देशों में, मद-विह्वल हो कर—

कभी बोल उठता है कोई विहग भूलकर— ।
मौन सुनील गगन के नीचे खड़े हुए हैं—
स्वच्छ शिखर हिमगिरि के, धीरे-धीरे जिनसे
निकल रहे हैं बादल, कमल वनों से जैसे—
उठ-उठ कर सौरभ के झोंके, सूर्य लोक की—
ओर प्रेम से जाते रहते शांत मनोहर ॥

इस में कोई संदेह नहीं कि बर्त्वाल जी ने ऐसे उदास दृश्यों को भी काफी से अधिक देखा है, उनमें गूँजने वाली ध्वनियाँ सुनी हैं और उनका अर्थ भी समझा है, परंतु उनके अधिकांश प्रकृति चित्रों में गति और रंग का प्राधान्य है। 'प्रभात' उनकी एक बहुत सुन्दर कविता है। उसमें मूर्ति-निर्माण का कौशल देखने ही लायक है—

ओ प्रभात ! मेरे प्रभात ! सुंदर ! आओ धीरे-धीरे !
ओ पुलकित पवनों की चंचल स्वर्ण पुरी के हीरे !
निर्मल जल पर पड़ती लख कर तरुण किरण की छाया
इस निरभ्र नभ सा मुझको भी हँसना ही है भाया !

'प्रभात' अपने कोमल उज्ज्वल प्रकाश सहित पृथ्वी तथा नील आकाश में अपनी किरणों में थिरकता हुआ आता है। कवि उस 'पुलकित पवनों की चंचल स्वर्ण-पुरी के हीरे' का स्वागत, अपनी आत्मा को उस शोभन वर की बधू बना कर करता है—

हे परिचित ! हे सदा अपरिचित ! हे नीरव हे सुंदर !
हे प्राणों के परममित्र ! हे शत्रु उदास मनोहर !
नील गगन के द्वार खोल कर स्वर्ण मुकुट धारण कर
मेरी आत्मा के द्वारों पर आते तुम बर बन कर ।

और उसके ही साथ चुपचाप चलने लगता है—

ये नीरव नयनों के चुंबन, ये कोमल आलिंगन,
ये चुप-चुप विह्वल कानों में पुलक स्वरों के वर्षण ।
आँखें मूँद, तुम्हारी बाँहों पर अपना सिर धर कर
मैं चुपचाप चला जाता हूँ साथ तुम्हारे सुंदर !

'प्रभात' के आने से उत्पन्न हुई चेतना पर इस बधू की दृष्टि पड़ती है और मधुर स्वरों में वह अपने प्रिय 'प्रभात' से कहने लगती से—

तुम्हें देख कर उठी ससंभ्रम तरु-तरु-तल पर छाया !
तुम्हें देख कुसुमों के मुख पर मंद हास फिर आया !
जोड़ तरल कर, लगा भाल पर विंदु अरुण चंदन का
हुई तुम्हारे शुचि चरणों में प्रणत पावनी गंगा !

किंतु 'प्रभात' केवल प्रकाश की एक लहर ही नहीं है जो समस्त विश्व को सोने में बोर देती है; एक 'समय' मात्र ही नहीं है, जिसमें इतना सारा परिवर्तन रात्रि के पश्चात् आप से आप आ जाता है, वरन् वह एक दूरागत प्रेमी भी है—

स्वर्ण अश्व को थाम द्वार पर उतरो हे चिर-सुन्दर !
निद्रित प्रेयसि के आगे तुम जाओ मृदुल चरण धर !
सोने की वंशी हाथों में, मृदुल हँसी अधरों पर,
भर बाँहों में वह लज्जित मुख चूमो हे मधुराधर !

यही नहीं, प्रभात एक दीन ग्रामीण ग्वाला भी है, एक कृषक भी

गोशाला के द्वार खोल, गौओं को बाहर कर,
चले मधुर गाते तुम हिम-जल के भीगे वन-पथ पर !
भेजी तुम ने कृषक-कुमारी हँसिया ले खेतों को !
कटने को चुपचाप खड़ी है जहाँ फसल पक नत हो !

प्रभात के आगमन के साथ ही समस्त संसार अँगड़ाई लेकर उठ खड़ा होता है, और गति जो जीवन का एक गीत प्रतीक है अणु-अणु में व्याप्त हो जाती है—

निश्चल-पङ्खों को दी तुमने शक्ति पुनः उड़ने की ।
स्थिर चरणों को मिली प्रेरणा फिर उठ कर चलने की ।
मुँदे नयन, फिर खुले, हृदय में फिर आईं आशाएँ,
अधरों में गुनगुना उठीं फिर प्राणों की भाषाएँ ॥

कवि इस 'प्रभात' से, 'शिशिर-शीर्ण जीवन में' सौरभ का प्रवाह बन कर उमड़ आने का अनुरोध करता है—

उमड़ों बन प्रवाह सौरभ के, शिशिर-शीर्ण जीवन में !
जागो आशा के वसंत-से यौवन के उपवन में !
करो नये, अपने छूने से तृण-तरु को, किसलय को,
खोई यौवन-श्री लौटा दो फिर इस व्याकुल भव को !

और उसकी प्रशंसा करता हुआ कहता है—

ले जाते किशोर पृथ्वी को तुम यौवन के पथ पर।
कलिकाओं के फूल बनाते, फूलों के फल सुँदर ?[1]
करते अस्त चंद्र को, रवि को नील गगन में लाते !
ऋतुओं को करते परिवर्तित, विविध समीर बहाते !
नील गगन के स्वर्ण-गीत तुम, स्वप्न धरा के चलते ?
छाया के आलोक-हास तुम, किरणों के मधु झरते।
तुम दिन-दिन नवीन होने वाले पृथ्वी के चिर यौवन !
सदा पल्लवित रहने वाले अखिल विश्व के हे जीवन !

किंतु धीरे-धीरे, कवि को प्रभात की तीव्र गति से जाती हुई शोभा का भान होने लगता है और उसी के साथ चलते हुए वह प्रश्न करने लगता है—

प्रतिपल विदा सुखों से लेते फिर न कभी हँसने को !
कहाँ जा रहे हम अपनों से फिर न कभी मिलने को ?
यह कैसी यात्रा है जिसमें आज पदों पर चुभ कर
कल काँटे भर आते कोमल स्मिति बन बन अधरों पर ?
चलना भूल, खोल अश्वों कों, बैठ मृदुल दूर्वा पर
दूर किसी नीरव निर्जन में बाँहों में बाँहें भर,
पुष्पों के वन में, सरिता की कोमल कल-कल सुनते—
हे सुन्दर ! हम सदा सुखी बन, क्या न रुके रह सकते ?

पर 'प्रभात' अपनी मौन गति से किसी अदृश्य लोक की ओर बढ़ता ही जाता। शोभा की यह अस्थिरता कवि के प्राणों को विकल कर देती है वह सोचने लगता है—

पलकों पर मोती की बूँदें, अंचल में मृदु किरणें
वाणी में विहगों का कलरव, अलकों में नव पवनें।
ये उपहार सदा उड़ जाते जो निष्फल सपनों से
क्या न सदा के लिये बनेंगे धन, उर के नयनों के ?

किन्तु निश्चय परिवर्तन से उसे अपने जीवन में आने वाली जीर्णता का भी ध्यान आ जाता है जब उसकी शक्तियाँ क्षीण हो जावेंगी, उसके नयनों की ज्योति मलिन पड़

---

[1]कलियों को फूल और फूलों को फल बनते सभी देख सकते हैं किंतु कलियों के फूल और फूलों के फल बनते, कवि हृदय ही देख पाता है।

जावेगी, उस के प्राणों के दीप को निविड़ निशा घेर लेगी, तब क्या यह सुंदर प्रभात उस के सिरहाने कोमल-प्रभा बिछा कर जीवन की उस रजनी में आश्वासन देने आ सकेगा ?—

और जरा जब आकर मेरे नयन मलिन कर देगी ।
जब इस बुझते हृदय-दीप को निविड़ निशा घेरेगी ।
तब मेरे सिरहाने अपनी कोमल-प्रभा बिछाकर ।
आश्वासन क्या दे न सकोगे तुम रजनी में आकर ?

'प्रभात' तो सदैव की भाँति वैसे ही आवेगा पर उस की शक्तियाँ न रहेंगी, वह ही अपने जीवन का आनंद फिर से न पा सकेगा, मृत्यु के किसी अंधकार लोक में जाते समय वह अपने जीवन के प्रिय 'प्रभात' के अंतिम दर्शन करने के लिये अँधेरी बातायन तक उठ आवेगा पर अपनी शक्तियों से मृत्यु उसे जब वहाँ से भी क्षण भर को नील गगन में मनोहर हास हँसते उतरते हुए प्रभात के दर्शन न करने देगा तब अंधकार में मृत्यु द्वारा खिंचा जाता हुआ वह हृदय आँखों में आँसू भर कर सुदूर जीवन के पथ पर किरणें लेकर उतरते प्रभात को देखेगा, विहगों के गीत सुनेगा ।—

गहन मृत्यु की किसी अँधेरी बातायन तक उठ कर ।
मैं विहगों के गीत सुनूँगा आँखों में आँसू भर कर ।
देखूँगा सुदूर जीवन के पथ पर किरणें लेकर—
उतर रहे हो नील गगन से तुम हँस हास मनोहर !

उस दिन भी पृथ्वी पर आज की ही तरह फूल खिलेंगे, प्रभात दूर्वा के आँसू पोंछेगा, कोमल छाया में भौंरे गूँजेंगे पर 'मेरे लिये यह सब आनंद न रह जावेगा, अंधकार लोक में जहाँ यह सब शोभा मुझे देखने को न मिलेगी मैं इसी के लिये रोता रहूंगा' ।—

मैं रोऊँगा जब फूलों से तुम वन-वन भर दोगे !
मैं रोऊँगा जब तुम दूर्वा के आँसू पोंछोगे ।
मैं रोऊँगा जब छाया के तल पर लेट अकेले,
तुम कोमल-कोमल भ्रमरों का गुंजन मधुर सुनोगे ॥

प्रकृति के सौंदर्य को, पृथ्वी के फूलों को, भ्रमरों को, विहगों के स्वरों को, नदियों के मौन संगीत को इतनी तन्मयता से प्यार करने वाला कवि संस्कृत साहित्य में कालिदास और भवभूति के रूप में मिल सकता है अंग्रेजी साहित्य में टेनीसन, कीट्स और वर्डसवर्थ के रूप में पाया जा सकता है किंतु हिन्दी-साहित्य में संभवतः आज तक कोई नहीं हुआ है, जो सौंदर्य की क्षीण होती हुई शोभा में भी लीन होकर अपने रुदन के अमर गीत गा सके !

श्री चन्द्रकुँवर जहाँ एक ओर प्रकृति का 'संध्या' जैसा लघु और 'प्रभात' ऐसा सुंदर रंगीन चित्र विस्तार पूर्वक खींच सकते हैं वहाँ उन में ऐसे सुंदर स्थलों की भी कमी नहाँ है जहाँ वह चित्रण की बारीकी को प्रधानता न देकर केवल दो एक सौंदर्य-उपकरणों का ही चलता वर्णन कर सुंदर भावों की सृष्टि करने में सफल हुए हैं। अंग्रेजी कवि टेनीसन के लिये जैसे कहा जाता है कि वह साधारण उपकरणों से भी असाधारण प्रभाव उत्पन्न करने में (अपनी कविता में) सफल होता था—"He could give large effects with meagre facts""—ठीक यही बात श्री चन्द्र कुँवर पर भी लागू हो सकती है। जैसे—

'बिखरा जटा खड़ा वह तापस युग-युग से पर्वत के ऊपर'।

'हिमालय' शीर्षक कविता की इस पंक्ति में हिमालय का स्थल शरीर कवि के दृष्टिपथ से हट जाता है और सामने आती है जटा फैलाए हुए एक पुराने ऋषि की मूर्ति। पूर्व दिशा की ओर उस की रजत जटा पर दिन कर चमक रहा है और पश्चिम की ओर उसी जटा के नीचे रजनी छिप कर बैठी है।—

हिमालय

शोभित चन्द्रकला मस्तक पर
भस्म-विभूषित नग्न कलेवर
कटि पर कृष्ण गजाजिन-सा घन
गिरती घोर घोष कर पद पर
वज्र-छटा-सी दीप्त सुरधुनी
शांत नयन गम्भीर मुखाकृति
अर्थ, इति हीन, वीर्य, यौवन धृति
दीप्त-प्रभा रवि उद्भासित मुख
मूर्तिमान आत्मा की जागृति
ज्योति-लिखित ओंकार स्वरित ध्वनि
आदि पुरुष हे! हे पुराण मुनि!

२

बिखरा जटा खड़ा वह तापस युग-युग से पर्वत के ऊपर!
पूर्व दिशा की ओर चमकता उस की रजत जटा पर दिनकर
पश्चिम में बैठी है रजनी उसी जटा के नीचे छिप कर
पूर्व दिशा से उमड़ रहे हैं उस की जटा छोड़ कर निर्झर

पश्चिम में उस के बालों में लिपट रहे हैं व्याल भयंकर
पूर्व दिशा से अमृत झरता, पश्चिम से विष झरता झर झर
कटि पर उस के लहराते घन चूर-चूर तारे मस्तक पर
बिखरा जटा खड़ा वह तापस मौन एक पर्वत के ऊपर।

हिमालय का सौंदर्य उस की अचल स्थिति उस के प्रसार और उस की उज्ज्वलता में है। कवि ने इन सब विशेषताओं के सौंदर्य से हिमालय का यह भव्य चित्र उतरा है जो छोटा होते हुए भी विराट् है।

श्री चन्द्रकुँवर बर्त्वाल ने वर्षा पर कई सुंदर कविताएँ की हैं। वर्षा उन की प्रिय ऋतु जान पड़ती है। उस के सौंदर्य को अनेक रूपों में कवि ने देखा है किंतु उस सौंदर्य की शोभा पर्वतीय वातावरण में अत्यंत मनोहर हो जाती है। 'घन-गर्जन सुन छितर दौड़ती गौ-समूह सी बदली' से आरंभ होने वाली कविता में आकाश में मेघमालाएँ और पृथ्वी पर गायें एक साथ ही छितर कर दौड़ने लगती हैं और इस समसामयिक क्रिया-व्यापार में ही पृथ्वी आकाश के दृश्यों का चित्रण करने के लिये कवि को बिम्ब-प्रतिबिम्बरूप में भावना से संबद्ध वस्तुएँ ही उपमेय के रूप में मिल जाती हैं। वर्षा का वर्णन स्वर्ग और पृथ्वी दोनों लोकों से सौंदर्य उपकरण उपस्थित करता है और मनुष्य की भावनाओं को जागरित कर आनंद-लोक में पहुँचा देता है।—

घन गर्जन सुन छितर दौड़ती गो-समूह-सी बदली।
ग्वाले की लकुटी-सी रह रह चमक रही है बिजली।
असफल हो कर क्रोध कर रही इधर उधर दौड़ती पवन।
ग्वालिन की ममता-सी झरती घेर गगन वर्षा उजली।

प्रथम दिवस ये नव वसंत के धरा प्रेम से भरी हुई।
छाया भरे पथों में पुष्पों की पँखुरियाँ झरी हुई।
हरे भरे शिखरों पर चरती थी नव गर्भवती गौएँ।
छोड़ रहा था तान सुरीली ग्वाला झूम बाँसुरी की।

सहसा दिशा-दिशा भर आई, लगी पवन बहने गहरी।
पड़ी भूमि पर काली छाया नील, बादलों की!
देख अचानक सघन अँधेरा-देख चमकती बिजली।
दिशा-दिशा को पूँछ उठा कर गौएँ छितर भाग निकली।

इसी भाँति ज्योति-पुंज की झरती वर्षा की शोभा को नाद और गति सौंदर्य के नृत्य सहित देखिए—

१

मेघ-पुंज में खेल रही है, एक ज्योति की काल-नागिनी।
बार-बार डसती बादल को, ज्योतित करती अंधकार को,
अशनि तीक्ष्ण उद्दीप्त फणों से, वह प्रकाश की काल-नागिनी।

२

झरता है बादल झर झर झर, दंशन से क्षत विक्षत हो कर।
छिन्न-भिन्न कर अंध पुंज को, ज्योति बरसती दीप्त हासिनी।
मेघ-पुंज में खेल रही है, एक ज्योति की काल नागिनी॥

गतिशील सौंदर्य का ज्योतिमान चित्र यदि 'ज्योति-नागिनी' में खींचा गया है तो वर्षा के आने पर स्वर्ग-पृथ्वी और हृदय में उत्पन्न संगीत को नीचे की पंक्तियों में वाणी दी गई है—

आज कोलाहल विपिन में, आज जनपद शांत
लोचनों में आज घन जल, हृदय में आनंद।
आज गृह के पास बजती, किस तरुण अभिसारिका की
किंकिणी मृदु मंद!
आज भैरव रव गगन में, कुंज में मल्लार,
बरसता आवेश झर झर, फैलता है प्यार!
आज सावन है धरा में
आज हरियाली अनंत।
किंतु इस उर वाटिका में
प्रेम के इस प्रिय निलय में
हँस रहा लज्जित वसंत॥

'वर्षा की ऋतु' ने किसी समय कवि को इतना मुग्ध किया है कि अब नये मेघों को देख कर उस की प्राचीन स्मृति सजग हो जाती है और उस के हृदय में भी पावस की ऋतु आ जाती है—

नभ में वर्षा की छवि छाई, उर में पावस की रितु आई।
मेघों के गद्-गद् स्वर सुन कर, उर में पावस की रितु आई।
बरसी जब शृंगों पर बरसा, अंतर में व्यथा हुई सहसा।
बरसी जब शृंगों पर बरसा, उर में पावस की रितु आई।

जब झरने चले नदी से मिलने, ले यौवन के उन्माद घने।
मेरे उन्माद भरे उर में, पिछली पावस की रितु आई॥

इस स्मृति के सजग होने पर कवि अपने मित्र से पूछने लगता है—

याद हैं तुम्हें न मित्र, उस दिन के बादल ?
हम लेटे थे गिरि ऊपर दूर्वा पर,
फिरते थे इधर-उधर बादल शिखरों पर।
करते कुछ परामर्श आपस में,
सूर्य को देख-देख शैलों पर आ-आ एकत्र हो !
सुनतो चुपचाप पवन थी फण नत करके,
नभ में थीं दौड़ रहीं काली घन पंक्तियाँ !
करते रवि के विरुद्ध मेघ आपस में मंत्रणा,
'उसे अंध बना गगन-तल से च्युत करना'।
होती थीं नील-नील शिखरों की श्रेणियाँ,
रह-रह चमक रही थीं कपिश लोल विजलियाँ।
सहसा तूफान चला वनग्वन चिल्लाये,
अम्बर में शब्द हुए, भूधर थर्राये।
दौड़े मेघ, घनघोर मेघ हाथों में वज्र लिये,
आहत हो सूर्य कहाँ जाने जा छिपे!
फैला घन अंधकार टूटी खर बरसा,
जाने क्यों आसमान निर्दय हो गरजा !
देख हमें; 'दौड़ रहे, गिरि के ढालों पर',
'पकड़ो' कह कर कड़क उठी विजली-मेघों में।
याद हैं, तुम्हें न मित्र, उस दिन के बादल ?

और फिर वर्षा के देवता इन्द्र की वंदना कर सौंदर्य की शांति में लीन हो जाता है—

बजा तुम्हारा तूर्य गगन में,
मेरे उत्सुक मन में,
शोभित वह बादल के मुख पर
रंग विरंगे तूर्य मनोहर

पीछे से रथ-चक्र घर्घरित
उमड़ आ रही घन घटा अमित
प्रभो ! तुम्हारी जय कह कर !

ग्रीष्म की तपन के पश्चात् आई वर्षा के शीतल सुखद प्रभाव की भी बड़ी सुंदर अभिव्यक्ति थोड़े ही शब्दों में कवि ने इस प्रकार की है—

जग का ताप शांत करने को उमड़-उमड़ वर्षा आई।
दिशा-दिशा से उठ-उठ मंगल की बदली लहराई।

उठी पवन, काँपे द्रुम-पल्लव।
हुआ गगन में मधुर-मधुर रव।

चौंकी चपला—दिशा-दिशा से मधुर झड़ी झर आई !

आर्द्र पल्लवों ने जीवन की
सजल रागिनी गाई !
खोले दूर्वा ने निज लोचन
हुए हरे मुरझे किसलय-वन

सरिता ने अँजलियाँ भर-भर अपनी तृषा बुझाई।

दिशा-दिशा से जीवन की
कल-ध्वनियाँ पड़ी सुनाई !
कहीं झर रहे हैं नव निर्झर
कहीं उड़ रहे हैं विहग मनोहर

कहीं भरे आँसू पलकों में, कहीं कोपलें उग आईं।

बैठ कहीं ग्वाले ने अपनी
मुरली मधुर बजाई
हरी भरी करने को धरती, उमड़ उमड़-वर्षा आई॥

इन सभी कविताओं का वातावरण पूर्णतया पर्वतीय वातावरण है। ठीक यही बात उन की 'वन-देवता' शीर्षक कविता के विषय में भी कही जा सकती है। 'वन-देवता' में चित्रित दृश्यों को यदि आप कहीं देखना चाहते हैं तो आप को हिमालय के उन अंतः प्रदेशों तक पैदल यात्रा करनी पड़ेगी जहाँ चीड़ के एक पेड़ को घेर कर, सरिता के तट से कदली के लंबे पत्ते लाकर, लोग उल्लास से झूमते पैरों से नृत्य-मग्न रहा करते हैं।—

वन-देवता

१

जाओ मेघों के भीतर गिरि के शिखरों पर
रंग-बिरंगे वस्त्र पहन, हाथों में धर कर—
अक्षत-धूप-दीप चन्दन
जाओ हे गाते सब मधुर स्वरों में वंदन
उस सुर का जो करता सब का वन में रक्षण।

२

सरि के तट पर कदली ले कर, जिस के किसलय हों—
काँप रहे मारुत के चुम्बन से, झरते हों जिस के उरु से—
अमृत के निर्मल निर्झर,
जिस के रक्त कुसुम में गूँज रहे हों मधुकर।

३

लाओ कंचन के नवीन पात्रों में भर-भर
नृत्य-प्रिया मदिरा, जो छल-छल कंपित हो कर—
बार-बार हो छलक रही, तरुणी के कर पर।

४

लाओ अपने नयनों में अञ्जन अंकित कर
बाँहों में शत निर्दय आलिंगन गोपित कर
बाँध पदों में नूपुर, कटि पर कंचन रशना
आओ नयनों में कटाक्ष भर प्रिय नयना!

५

किसी चीड़ के नीचे गाते-गाते रुक कर
करो विकीर्ण पुष्प उस तरु के पाद-मूल पर।
मस्तक पर कर मलय-प्रभव-चंदन का लेपन;
करो जला कर धूप-दीप, तरु वर का पूजन।
हाथ जोड़ फिर तरु के चारों ओर घूम कर
करो प्रणाम, भक्ति से पृथ्वी पर नत हो कर।

६

फिर मदिरा से कर सुसिक्त तरु वर का जीवन
मदिरा पान करो—घृणित होने दो लोचन
स्खलित-वचन अति मुखर नूपुरों को चरणों के
मत्त झूलने दो हारों को निज स्तनों के।
गिरने दो अंचल, ढीली होने दो रसना,
आज लाज क्या नाचो-नाचो चंचल चरणा!

७

नाचो तरुण चीड़ की छाया में दूर्वा पर
नाचो प्रिय चुम्बन से सुख-वश काँप-काँप कर।
नाचो और विपिन की छाया में खो जाओ।
विपिन-देवता का करते यौवन से पूजन—
मेघों के भीतर गिरि के शिखरों पर जाओ॥

'वन देवता' के दर्शन करने के पश्चात् यदि 'वन-देवी' को भी देखने की चाह हृदय में जागरित हो तो उस के लिये गिरि शृंगों पर वहाँ जाना होगा जहाँ प्रतिपल बादल फिरते रहते हैं, जिनके ऊपर शीतल बर्फ सदा कुहरे सा फैला रहता है। उन्हीं गिरि-शृंगों पर प्रति-संध्या को कुछ रंग-बिरंगी छायाएँ नाचती हैं, जिन्हें देख कर सब लोग यही कहते हैं, 'यहाँ वन देवियाँ नाचती हैं'।—

वन-देवी

१

वन में बजते रहते नूपुर, छाया में सुन पड़ते मृदु स्वर।
तरु से रह-रह गिरते प्रसून, रह-रह भर आता पिक का उर।
बसती है इस वन में कोई, जिस की सुषमा वन में छाई!
मन मोह रही जिस की शोभा, पर पड़ती है जो न दिखाई।
जब गोशाला में सोती गायें, ग्वाले, सोते घर के भीतर
तब कोई बन में सुन पड़ती गायों को पुकारती रुक-रुक कर।
गायें स्थिर हो सुनने लगतीं, वन-देवी का वह कोमल स्वर।
रजनी का घन अंधकार, छाया रहता बाहर पृथ्वी पर॥
होता प्रभात जब बन-बन में, लतिका के तल पर तब मिलते;
कुछ कुसुम पड़े, जो वृन्तों से होंगे रजनी में चुने गये।

कुछ लोग सोचते हैं तब यह, 'वन-देवी ने इन फूलों से,—
शृंगार किया होगा लतिका-तल पर, रजनी भर रह कर के।'

२

दोपहरी देख पथिक वन में जब छाया करता सेवन।
तन्द्रा आकर धीरे-धीरे देती है उस के मूँद नयन।
सहसा किस की आहट सुन कर उस के हो जाते सजग नयन।
निर्जन वन के उर में किस के चरणों की सुनता वह गुंजन।

३

गिरि के शृंगों पर वहाँ जहाँ, फिरते रहते प्रति पल बादल।
जिन के ऊपर फैला रहता कुहरे सा सदा बर्फ़ शीतल।
उन गिरियों पर प्रति संध्या को, कुछ रंग विरंगी छायाएँ—
नाचती, देख कर, सब कहते 'वन-देवियाँ नाचती यहाँ'।

४

हो कर वसंत में अलि व्याकुल जब प्रेमी तरु के तल-तल पर।
खोजता प्रेमिका को, निराश हो कर गिर जाता दूर्वा पर।
उस समय कौन कुसुमित वन से, उस के मन की देवी ला कर।
कर देती है उस की निद्रा, प्रियतमा-समागम से सुंदर?

इन सब कविताओं का वातावरण इन के रंगीन चित्र सब पर्वतीय शोभा से युक्त हैं। कवि ने अपनी साधना का यह सौंदर्य संगीत के स्वरों में हमें दिया है जिस से पर्वतीय प्रकृति के ये चित्र शांत कोमल हैं।

किन्तु बर्त्वाल जी ने प्रकृति के भयावह दर्शनीय चित्र भी उतारे हैं। यदि उनकी 'बसंत की दोपहरी' पढ़ कर हमें श्री रामचंद्र शुक्ल व महाकवि सेनापति का 'ज्येष्ठ-मध्यान्ह-वर्णन' याद आ जाता है तो उनका 'भावर का रास्ता' भवभूति के 'दधति कुहर भाजम् अत्र भल्लूक यूना' की याद दिलाता है। 'भावर' हिमालय की तराई है। घनघोर शाल के वृक्षों से आच्छादित, सर्प-संकुल और व्याघ्राकीर्ण, गरम आवश्यकता से अधिक। ऐसे भावर का रास्ता देखिये। —

सुन सान घोर जंगल जिस में चिंघाड़ रहे वन के हाथी
घूमते इधर से उधर शेर, बन कर जैसे यम के साथी

बाँसों और घने शालों ने आसमान में
उलझ, जमाकर दी, अपने नीचे, पृथ्वी में,
ऐसी रात, न तारे जिसमें कहीं चमकते !

युग-युग से सड़ते पत्तों के नीचे से उठ,
चलती हवा मच्छरों से अत्यंत घनी हो !
घनी छाँह के नीचे दलदल बनते पोखर
जहाँ मच्छरों की असंख्य सेनायें पलतीं !

बाँसों के नीचे गुस्सावर शेर गरजते
और कई शालों के काले तने बाँधकर
अपने दृढ़ शरीर से, नीचे लटक पवन में,
जीभें खोल हाँपते रहते, साँप, रात-दिन !

किंतु प्रकृति के ऐसे भयावह चित्र उपस्थित करने की अपेक्षा उसके कोमल शांत-शोभन चित्र उपस्थित करना श्री चन्द्रकुँवर बर्त्वाल को अधिक प्रिय है। वे प्रकृति के शोभन सौंदर्य के कवि मूल रूप से हैं। निर्झर, गिरिशिखर, नदी, पुष्प, संध्या, प्रभात, वन, बादल आदि के रमणीय सौंदर्य ने उनके मानस पर इतना अधिक अधिकार कर लिया है कि ये दृश्य बराबर उनकी अज्ञात चेतना से उभर-उभर कर ज्ञात चेतना में आते रहते हैं। 'मानवता' की आर्त पुकार सुनकर कर्मण्यशील वर्तमान संघर्ष को शक्ति देने वाले गीतों में भी कवि अपने पर्वतों की शोभा को नहीं भूलता—और वे गिरि-शिखर अपनी शोभा सहित कवि के स्वप्नों में आ जाते।—

कल सपनों में आये मेरे वृक्ष मनोहर;
आई छाया, आये पल्लव, आया मर्मर
आये फिर ऊँचे गिरि, जिनके शुचि अधरों पर
बिखरा था हिम, धूमिल सपनों का-सा सागर

कवि की इन मनोहर बाह्य-सौंदर्य-चित्रों से पूर्ण कविताओं को देखकर कोई भी गर्व के साथ कह सकता है हिन्दी में प्राकृतिक सौंदर्य के भव्य चित्र उतरने लगे हैं।

आंतरिक सौंदर्य की तन्मयता

आंतरिक सौंदर्य, मानव-हृदय की भावनाओं का सौंदर्य है जिसमें तन्मयता आनंद और पीड़ा दोनों की घनी वेदना उत्पन्न कर देने वाली होती है। प्रेम, हृदय की सबसे अधिक प्राचीन और सबल भावना है जो परिस्थितियों के अनुकूल अथवा प्रतिकूल होने से शांत अथवा करुण रूप में हृदय में रहती है। उनके इन दोनों रूपों की अभिव्यक्ति श्री चन्द्रकुँवर ने अपनी कविताओं में तन्मय होकर की है। उनकी एक कल्याणी को यदि हम गद्‌गद् होकर—

मेरे प्रिय का सब ही अभिनंदन करते हैं
मेरे प्रिय को सब ही प्रिय, सुंदर, कहते हैं
मैं लज्जा से अरुण, गर्व से भर जाती हूँ
मेरे प्रिय सुंदर शशि-से मृदु-मृदु हँसते हैं

× × ×

वे जब होते पास न मैं कुछ भी कहती हूँ
वे जब रहते पास; न मैं उनको लखती हूँ
हो निराश जब वे शशि-से, आहें भर जाते
मैं अपनी आँखों में नीर भरे रहती हूँ

कहते पाते हैं तो दूसरी नंदिनी को करुण स्वरों में एकांत में मौन व्यथा के गीतों में आँसू बहाते पाते हैं—

१

तुमने क्यों न कही मन की ?

रहे बंधु तुम सदा पास ही
खोज तुम्हें, निशि-दिन उदास ही—
देख व्यथित हो लौट गई मैं,
तुमने क्यों न कही मन की ?

२

तुम अंतर में आग छिपाये
रहे दृष्टि पर शांति बिछाये
मैं न भूल समझी जीवन की
तुमने क्यों न कही मन की ?

३

खो मुझको जब शून्य भवन में
तुम बैठे धर मुझे नयन में
कर उदास रजनी यौवन की
कहते करुण कथा मन की !

४

मैं न सुधा लेकर हाथों में
आई उन सूनी रातों में
स्मिति बन कर न जीवन की
मैं बन रही व्यथा मन की !

५

जग में मैं अब दूर जा चुकी
रो-रो निज सुख-दुख सुला चुकी
अब मैं केवल विवश बँधन में
कहते क्यों मुझ से मन की ?
तुमने क्यों, न कही मन की ?

इस नंदिनी के न केवल आँसू ही गीतों में झरते हैं वरन् उच्छ्वास भी 'विवाहिता' की व्यथा में बदलकर गीत हो जाते हैं। वह मन ही मन कहती है—

१

फिर भी न भूल पाती मैं बचपन अपना
आँखों में आँसू भर आते
नदियाँ बहती पंछी गाते
मैं इसे देखती जैसे हो यह सपना

२

वे जब मुझको सावेश हृदय पर धरते
मैं हो जाती सुख से विह्वल
गिर जाता मेरा अंचल
उन के अधीर चुम्बन जब मुझ पर झरते

३

वह उन्मद स्वप्न देख कर जब मैं जगती
प्रिय के स्वर कानों में भरकर
प्रिय के समीप ही शय्या पर
जागरण-क्लान्त पलकें मेरी जब लगती

४

आता सहसा वह प्रिय वन, इन आँखों में
शीतल छाया पल्लव कोमल
पुष्पों से चित्रित पृथ्वी-तल
गाते पुलकित-चित सुंदर खग शाखों में

५

बाँझों के बीच खड़ा मंदिर वह प्यारा
आँगन में डाल शिलंगी की
निशि दिन मीठी आहें भरती
सिर के ऊपर गिरती अविरल जलधारा

६

आती थी जब बन में रवि की नव किरनें
सिर पर अपनी गगरी लेकर
बन में निर्जन पथ से चल कर
आती थी मैं जल के तट पर जल भरने

७

करता था वह हर रोज प्रतीक्षा मेरी
वह मेरे शैशव का सहचर
जिसकी आँखों का मधु पीकर
होती थी पूरी उर की इच्छा मेरी

८

वह वन-वन से लाकर के कोमल कलियाँ
मुझको छाया में बिठला कर
मृदु मंद स्वरों में गा-गा कर
सज्जित करता था मेरी अलकावलियाँ

९

माँ मुझे चाहती थी उसको ही देना
देखे थे मैंने वे सपने
हो सके जो न मेरे अपने
रानी बनना उसको बंदी कर लेना

१०

है मुझे याद वह पेड़ चीड़ का सुंदर
रहकर दिन भर जिसके तल पर
हम आँखों में आँसू भर-भर
होते थे बिदा डूबते थे जब दिन कर

११

मुझको न भूलती थी उसकी वे प्रिय बातें
मुझको न भूलती थी वह चितवन
मुझको न भूलते थे वे लोचन
मुझको न भूलती वे चन्द्रोज्ज्वल रातें

१२

हे ईश्वर ! क्षमा करो स्वामी तुम मुझको
मैं किसी और के चिंतन में
रहती विलीन मन ही मन में
मैं पाप कर रही ज्ञात हाय, यह मुझको

१३

पर कैसे भूलूँ मैं उस को जीवन में
शैशव में नित समीप रह कर
मुझको उतने सुख दे कर
जो समा गया मेरे नयनों में मन में

समाज जिसे 'हृदय का व्यभिचार' कह कर ठुकरा देता उसे कवि की सहानुभूति ने प्राणों का अमर संगीत बना दिया है।

विधुर-हृदय की व्यथाओं की टीस कई रंगों में कवि ने दिखाई है। प्रेम जब अकुवाने लगता है तो हृदय उसके आलंबन से अपरिचित होने से यही अनुभव करता

है उसे 'कुछ' हो रहा है, यह 'कुछ' क्या है, क्यों है, किसके कारण है वह कुछ नहीं जानता है किंतु वेदना उसे आनंद की होती है और वह उस अज्ञात को सर्वनाम की संज्ञा में 'तुम' कह कर अपने मन को आश्वासन देता है। अधिक साधारण रूप में 'उन' की कहानी चलती है और अपनी अनुभूतियों को वह बहुत कुछ इस ढंग से कभी प्रकट कर लेता है—

मैंने न कभी देखा तुमको,
पर प्राण तुम्हारी वह छाया—
जो रहती है मेरे उर में
वह सुंदर है पावन सुंदर !
मैंने न सुना कहते तुमको
पर मेरे पूजा करने पर
जो वाणी-सुधा बरसाती है
वह सुंदर है पावन सुंदर !
मैं उस स्पर्श को क्या जानूँ
पर मेरी गीली पलकों पर
जो मृदुल हथेली फिरती है
वह सुंदर है पावन सुंदर !
मैंने न कभी देखा तुमको
पर प्राण तुम्हारी वह छाया
जो रहती है मेरे उर में
वह सुंदर है पावन सुंदर !

धीरे-धीरे उसे भान होने लगता है—उसे किसी जीवन-संगिनी की आवश्यकता है किंतु उसकी धुँधली कल्पना ही वह कर सकता है पहिले तो शांति के साथ गाता है।—

किस के सरस अपांगों में तुम पले हुए हो
ओ ! प्रेम ! प्रेम मेरे !
किस के नयन-नलिन में तुम झूमते निरंतर
ओ प्रेम ! प्रेम मेरे !
किस के मृदुल अधर पर तुम गूंजते निरंतर
ओ प्रेम ! प्रेम मेरे !

मैंने कभी न देखी वह अप्सरा कुमारी
वह नागरी नवेली
मेरे लिये तुम्हें जो है पालती निरंतर
बन में कहीं अकेली
किस के हृदय-सदन में तुम पल रहे निरंतर
ओ प्रेम ! प्रेम मेरे !

किंतु धीरे-धीरे भाव में छाया पड़ने लगती है और धूमिल वातावरण में कवि के स्वर भी धूमिल हो जाते हैं। अब वह कहता है—

१

धूमिल बेला में सुंदर वह छिपी याद है आती
मर्मर मय एक कसक ला उत्पीड़ित उर कर जाती
कितने मृदु स्वप्न बिचरते, कितनी स्मृतियाँ आती
पलकें कितनी प्यासी बन हैं स्वतः सदा उठ जाती

२

जिससे नहीं साक्षात् हुआ, जिस का सुदूर है मिलना
उसकी ही स्मृति को लेकर घुल-घुल जीवन में बहना
कितनी विचित्र लगती है स्मृति की धुँधली छाया ?
जिस में लवलीन बनी है चिर प्यासी नीरव काया

३

जीवन भर मैं रही समझती जिसको अपना जीवन गान
जिस के आने की आशा से, हँस उठते चिर अलसित प्रान
लुटा दिया है मैंने जिसके लिये मधुर यौवन और प्यार
वही न माने जो अपना तो प्राण किसे दें अपना प्यार !

और जिस हृदय ने पाकर संगिनी को खोया उसकी व्यथा में एक चीत्कार के स्वर आपको मिलेंगे—

कहाँ खो गई जन समूह में
वह मेरे वन की हरिणी !
क्या न किसी ने पहिचानी वह
उल्लासों में भाग न लेती

रहती सदा अकेली
बनी हुई निज मर्म-व्यथा से
प्रिय को एक पहेली !
क्या न किसी ने देखी वह
तरुणाई में सुख-विमना ।
क्या न किसी ने देखी वह,
मेरे वियोग की करुणा
उसे खोजता हूँ मैं कब से
देश-देश में प्रति घर-द्वार ।
किंतु न जाने उसे कहाँ है
घेरे कोई व्यथा अपार !

किंतु उस हृदय को भी आश्वासन देने कवि की वाणी आ जाती है वह कहती है—

धीर धरो ! वह तुम्हें मिलेगी
तरुवर मधु रितु तो आने दो
सौरभ के घर खुल जाने दो,
दूर देश में फिर वह कोकिल
भूली रह न सकेगी; तुम्हें मिलेगी
धीर धरो ।

निराशा और पीड़ा से चन्द्रकुँवर को आवश्यकता से अधिक मोह नहीं है । महादेवी की तरह 'पीड़ा' में ही अपने प्रियतम को वे नहीं ढूंढते । उनकी कविता में करुणा है इसलिये कि उन्होंने उसका अनुभव किया है । अनुभव भी रूक्ष नहीं कोमल स्निग्ध । करुणा उनके हृदय की विभूति है । हिंदी के दुःखवादी अधिकांश कवियों की तरह काल्पनिक करुणा में अपनी दुनिया बसाना उन्हें पसंद नहीं । श्रीमती वर्मा की तरह वह दुःख में नहीं रहना चाहते । क्योंकि—

मैं मर जाऊँगा पर मेरे जीवन का आनँद नहीं
झर जाएँगे पत्र-कुसुम तरु, पर मधु प्राण वसंत नहीं !
सच है घन तम में खो जाते स्रोत सुनहले दिन के
पर प्राची से झरने वाली आशा का तो अंत नहीं !!

समय-समय पर तो कोरी भावुकता से घबरा कर उनका कवि तड़प उठता है—

यह यशस्वियों की पृथ्वी है—यह वीरों की—
कर्म-भूमि है। इन दुर्गम शिखरों के ऊपर
कौन बास कर सकता है जिसने अपने को—
हो न देवता बना लिया? वज्रों से हिलते
इन मेघों को चीर सूर्य की दीप्त कान्ति को
कौन देख सकता है जिसके दृढ़ पंखों में
हो न बाज़ की शक्ति? अरे, इस अंधकार से
और मरण से ढकी हुई पृथ्वी में अपने—
पथ को कौन देख सकता, जिसके नयनों में
हो न खेलता आत्मा का प्रकाश चिर उज्ज्वल?
जीवन के छिद्रों-छिद्रों से फूट आ रहे
सघन निराशा के कलुषित प्रवाह, प्राणों के
दीपक को विलीन कर देने अंधकार में।
इन उत्पातों की बाढ़ों से अपने उर की
ज्योति बचाये रख सकता जो उसी रत्न को
धारण करती है पृथ्वी मस्तक पर अपने

किंतु इतना सब होते हुए भी कवि की सरल भावुकता स्मृति और कल्पना से सदैव सजग होती रहती है। 'मानव' शीर्षक कविता में हमें श्री चन्द्रकुँवर एक मानव व एक कवि दोनों ही रूपों में दृष्टिगोचर होते हैं*। कविता के प्रारंभ में ही श्रांत कवि का स्वर सुनाई देता है—

नहीं, शांति से मुझे न रहने देगा मानव!
दूर बनों में सरिताओं के शीत-तटों पर
सूनी छायाओं के नीचे लेट मनोहर—
विहगों के स्वर मुझे न सुनने देगा मानव!
यौवन के प्रभात में पुष्पों के उपवन में—
खड़ी किसी मृदु मुखी मृगी के प्रिय चिंतन में—
मुझे नयन भर खड़ा न रहने देगा मानव!

*कवि भी मानव है किंतु ऐसा मानव जिस की आँखें विशाल प्रकृति के हृदय को अपनाती हैं।—लेखक

परंतु ऐसे तो दुनिया चल चुकी ! अभी श्री 'बच्चन' की एक कविता की पैरोडी में एक महाशय ने लिखा—

'सब युवक कविता बनाते कौन दे जापान रोके ?'

श्री चंद्रकुँवर का 'मानव' भी ठीक इसी समय आकर लुटती हुई मानवता की ओर संकेत कर कहता है—

शोषित, पीड़ित अत्याचार सहस्र सहन कर
चला जा रहा वह अविराम विजय के पथ पर—
वज्रों की, भूकम्पों की, उल्कापातों की—
रौद्र शक्तियों से कठोर रण कर, पग-पग पर ;
ऐसे समय घाटियों में लेटे जीवन की—
अकर्मण्यता मुझे न सहने देगा मानव ।

श्री चंद्रकुँवर बर्त्वाल, की कविताओं में दृश्यों की अपेक्षा भावनाओं की प्रधानता रहती है। इस दिशा में वे श्री 'प्रसाद' जी के अनुयायी कहे जा सकते हैं। परंतु बर्त्वाल जी की व्यंजना का स्वरूप हिन्दी-छायावाद के जन्मदाता (प्रसाद) की अभिव्यंजना से नितांत भिन्न है। 'प्रसाद' ही क्या हिन्दी के किसी भी कवि से उनकी अभिव्यंजना शैली कम मिलती है। बर्त्वाल जी ने कई छोटे-छोटे गीत लिखे हैं, जो अपने नाद-सौंदर्य, संगीत-प्रवाह, भाव-तीव्रता और शैली के निरालेपन के कारण बहुत ही सुंदर बन पड़े हैं। किसी बैठते हृदय की निराश आशा की कितनी मर्मस्पर्शी घनीभूत अभिव्यक्ति इस गीत में हुई है—

अभी भी यदि आश कुछ होती !
शिशिर से टूट कर भू पर गिरे इस दीन पल्लव को ।
हृदय से वृक्ष के लग कर हवा के साथ फिरने को
अभी भी यदि आश कुछ होती !
वधिक के हाथ से भूपर पड़े इस दीन मृग-शिशु को ।
मृगों के झुंड में मिल कर बनों के बीच फिरने की ।
अभी भी यदि आश कुछ होती !
दुःखों के भार के नीचे सिसकते इस दुःखी उर को
किसी की गोद में जाकर सुखी की भाँति मरने की ।
अभी भी यदि आश कुछ होती !

'बड़े धैर्य से अब तक दुख झेले, आपत्तियाँ सहीं, केवल इस आशा से कि कभी तो सुख के दिन देखने को मिलेंगे, कभी तो जीवन की सरसता अपने वसंत की शोभा दिखावेगी किंतु अब सब शक्तियाँ क्षीण होती चली जा रही हैं जीवन की आशा नहीं रह गई है, शिशिर ने वृक्ष से पत्तों को गिरा कर पृथ्वी पर बिखेर दिया है, बधिक ने मृग शिशु को ही मार गिराया है, दुःखों ने हृदय को ही कुचल डाला है तब आनंद उल्लास कहाँ ? और किसी काल्पनिक भविष्य में आवेगा भी तो वह मृतक के किस काम का ? 'लोहे के मिट्टी में मिल जाने पर पारस उसके लिये व्यर्थ है', 'प्राण छोड़ने के बाद पपीहे को स्वाति बूँद मिली तो क्या', 'बिरहिणी बाला के जल चुकने पर बिरही आया तो क्या ?' वृक्षकी डालें बसंत में फिर नई कोपलों से हरी भरी हो जायेंगी उनकी कोकिल अपने गीत सुनाने फिर उनके कोटरों पर आवेंगी पर बैठते प्राणों की कोकिल नहीं लौटेगी, नहीं लौटेगी ! इस अंधकारमय भविष्य की ओर जाते प्राणों को एक बार भी जीवन की पूर्व शक्तियों के मिल जाने की आशा होती, शिशिर से गिरे पत्र को वृक्ष पर लग कर हवा के साथ हिलने की कुछ भी आशा होती, बधिक के हाथ से भू पर गिरे दीन मृग शिशुवों मृगों के झुंड में जा कर बनों के बीच फिरने की कुछ भी आशा होती तो जीवन में शांति आती विश्वास आ सकता नव शक्तियों का संचार हो जाता और मृत्यु भी सुखद हो जाती किंतु यहाँ तो किसी की गोद में जाकर मरने का सौभाग्य भी भाग में नहीं बदा है तब जीवन के भावी सुखों की कल्पना में, 'घन तम में खो जाते श्रोत सुनहले दिन के' पश्चात 'प्राची से झरने वाली' अंतहीन आशा में कैसे विश्वास हो ? श्री चंद्रकुँवर को इस भावना में वेदना, कसक और गीतात्मक 'प्रसाद' जी की—

लगे रहे जो अभी डाल से बने आवरण फूलों के,
अवयव थे शृंगार रहे जो वनबाला के फूलों के।
आशा देकर गले लगाया रुके न वे फिर रोके से,
उन्हें हिलाया बहकाया भी किधर उठाया झोंके से।
कुम्हलाए, सूखे, ऐंठे फिर गिरे अलग हो वृन्तों से,
वे निरीह मर्माहत होकर कुसुमाकर के कुन्तों से।
नव पल्लव का सृजन ! तुच्छ है किया वात से वध जब क्रूर,
कौन फूल-सा हँसना देखे ? वे अतीत से भी जब दूर।

इन पंक्तियों से कहीं अधिक (सजीव) है, अभिव्यक्ति कहीं अधिक करुण है, विलीन होते (हृदय के) क्षीण स्वर, हृदय के एक-एक कोने में समा कर व्यथा जगाने लगते हैं। शरीर भी शिथिल होने लगता है उसकी क्रिया शीलता भी गीत की लय में विषाद की छाया में खो जाती है। गीत अपनी भाव-गरिमा और अभिव्यंजना की खूबी के कारण इतना करुण हुआ है।

इस बैठते हृदय को मृत्यु की छाया दीखने लगती है और वह अपनी वर्तमान स्थिति की अपेक्षा कहीं अधिक भयावह मृत्यु-गर्भ की कल्पना से व्यथित हो करुण-गीत गाने लगता है—

१

कुछ दिनों में आज के सुख भी न होंगे !
और भी निष्ठुर पवन बन जायगी
शून्य वृन्तों पर सिसकते ये दुःखी मुख भी न होंगे !
विश्व में कोई कहीं अपना न होगा—
और उर में हाय, सुख क्या कसकते दुःख भी न होंगे
उठ चलेंगी पीत किरणें लोचनों से
मृत्यु जब उर पर पड़ेगी शिशिर के ठिठुरे घनों से
बचे रहने के लिये तब, सुख कहाँ ? दुःख भी न होंगे

और जब उसे अपनी हृदयेश्वरी का ध्यान आता है, वह उस को लक्ष्य कर कहता है—

जब मुझे ऐसा बना दे प्रिय मरण—
ये तुम्हारे नूपुरों से गूँजते मंथर चरण
मुझे निद्रा से न मेरी जगा पावें,
तब न तुम हृदयेश्वरी, होना मलिन-मन !
समझना अपराध हूँ मैं कर रहा,
हूँ उपेक्षा जान कर ही कर रहा !
और मुझको तुम कठिनतम दंड देना 'भूल जाना'
समझना मुझको बिरह के मास का घन,
जो उठा था अंध नभ में, तुमुल रव से
और पीड़ा दे किसी को, गिर गया झर
फिर न उमड़ेगा कभी जो नील नभ पर !
समझना मुझ को व्यथा का एक आँसू
स्वप्न में जो था गिरा, पर जागने पर
जो हँसी को म्लान कर सकता न गिर कर

किंतु माता का वात्सल्य उस में जीवन की चाह जागरित कर देता है, वह अपने मन को प्रबोधता है—'इतना शोक न करो, कदाचित् सुख कभी लौट आवें'।—

हिन्दुस्तान एकेडमी, इलाहाबाद
5242
पुस्तकालय

शोक इतना मत करो, तुम बहुत दुर्बल हो अभी
अश्रु मत इतने बहाओ !
दीन मन यों मत बनाओ !
प्राण-रक्खो, सुख कदाचित् लौट आ जावे कभी !

और इस चाह में वह 'काल-सुनार' से विनय करता है "मुझे ज्वाला में न डालो मैं स्वर्ण नहीं हूँ, मिट्टी का दुर्बल मनुष्य हूँ, मेरी चमक देख कर भ्रम में मत पड़ो, 'चमकने वाला सभी सोना ही नहीं होता', मुझे मृत्यु यातनाओं की ज्वाला में भस्म कर तुम्हें क्या मिलेगा ! इस धधकती आग में पड़ कर मैं ऐसे लोक पहुँचूंगा जहाँ से लौटना नहीं हो सकता, मुझे बचा लो, मैं स्वर्ण नहीं हूँ, मिट्टी का एक साधारण मनुष्य हूँ ।"—

मुझे ज्वाला में न डालो
मैं न स्वर्ण सुनार हूँ ।
मत जलाओ, मत जलाओ
मैं न स्वर्ण सुनार हूँ ।
समझ कर भारी मुझे मत भ्रम करो ।
देख मेरी चमक मत नादान हो ।
इस धधकती आग में मुझ को न डालो ।
मैं न लौटूँगा जहाँ से हे बचा लो !
भस्म कर मुझ को, तुम्हें क्या
लाभ होगा ?
मैं न स्वर्ण सुनार हूँ !

उसे आशा होने लगती है संभवतः उस के सुख के दिन लौट आवेंगे, किंतु अपनी सूरत देख कर उस का विश्वास जाता रहा । मृत्यु ने उस पर पीली छाया डाल दी है उस की काया, प्रेत-छाया सी हो गई है, न जाने कब निष्ठुर मरण उसे मसल दे ?

आज अपनी देख सूरत, काँप मैं डर से उठा !
किस व्यथा से लग रहा हूँ, आज मैं इतना लुटा !
मृत्यु का प्रिय रंग पीला देख फैला हुआ मुख पर,
मैं शिशिर के शीर्ण-तरु-सा काँपता थर-थर !
आह ! पल-पल रहा कुम्हला, व्यथित प्राणों का सुमन,
कौन जाने कब उसे, देगा मसल निष्ठुर मरण !

उसे जीवन से विरक्ति हो जाती है—

आज अपनी प्रेत-छाया देख कर मैं डर गया।
आज से मुझ को न जीवन से प्रयोजन रह गया।

और वह 'आशा' की अस्थिर मोहिनी को नाना-नाच नचाते मनुष्य के प्राण हरते देखता है।—

"तुम्हें जगह दे सकी, नहीं रातके लिये, पथिक
तुम इसीलिये कुपित न हो जाना"
बंद द्वार कर गई, यह कह वह सुंदरी, हँस हँसी विमोहिनी,—
पथिक-मनोन्मादिनी, छोड़ द्वार पर खड़ा—
भीम अंधकार में, एक विदेशी को।
"बहुत दूर भ्रमित हो, कई बार राह खो, घोर अंधकार में
भय के संसार में, अंत में तुम्हारी कुटी थी मुझे मिली,
मिली जगह, पर, नहीं, लौट कहाँ जाऊँ!"

२

"किसी भाँति कष्ट से, दूर घाटियों में
भाग्य-कोसता हुआ, उतर था मैं गया।
इसी समय दूर से, घने अंधकार में
वह पुकारती मुझे, "पथिक तुम कहाँ गये!
तुम्हें नीर दे सकी, हाय पथिक! मैं नहीं,
इसी बात से कहीं, कुपित न हो जाना"
औ मँजीरें बजा, निर्झरी को लजा,
चली गई सुंदरी नीर से भरी-भरी।
तृषा से हुआ बिकल, एक वृक्ष के तले
मैं पड़ा था हुआ, तभी चरण थे चले—
आह, छलकते हुए, किसी तरल लहर के!
नीर, मधुर नीर भर, गिरि की उसी राह पर,
जाती थी सुंदरी, नीर से भरी-भरी!
मुझ से कुछ दूर जा, नीर-पात्र को नवा

समझ पहाड़ों, को, तृषा-मारे, चेतना-हारे
उन्हें भिगा नीर से, शून्य नीर-पात्र ले
जाने क्यों मुख फिरा, मुझे देख मुस्करा
दौड़ कर चली गई, निर्जन में सुंदरी !

और उस के आकुल प्राण पुकारने लगते हैं —

आशा की डोरी में जीवन झूल रहा है
काँटों की गोदी में पीड़ित यौवन फूल रहा है !

वह भूमि पर पड़े अपने 'खंडहर' हुए शरीर पृथ्वी को दिखाता है, पृथ्वी में दूर दीप-मालाएँ जल रही हैं, मधुर गीत और मोहक नृत्य हो रहा है, शहनाइयाँ वधुओं को गृहों में ला रही हैं, माताएँ शिशुओं को गोदी में भर, खड़ी हो पथ की शोभा देख रही हैं, प्रकृति में चारों ओर उत्सव हो रहा है, कुसुम छवि में झूमी हुई वल्लरियों की छायाओं में अलस लोचना सुंदरियाँ पड़ी हुई हैं, मधुप फूलों-फूलों पर गुंज भरते मँडला रहे हैं, उस के हृदय में वेदना जग उठती है—उस ने भी अपने जीवन को स्वर्ग बनाना चाहा था, मणि-दीपों से अपने उपवन को सजाना चाहा था, फूलों से अपनी अंजलियाँ भर आनंद गीत गाना चाहा था, पर वह एक खंडहर हो कर आज भूमि पर पड़ा है !—

साँसें भरता है पृथ्वी पर पड़ा खंडहर
दूर पुरों में दीपों की मालाएँ जलतीं
वहाँ सुरा नयनों में चंचल होकर हिलती
वहाँ गीत-नृत्यों से मुखर अधर-पद सुंदर
साँसें भरता है पृथ्वी पर पड़ा खंडहर ।

शहनाइयाँ वहाँ वधुओं को गृह में लातीं ।
पुर नरियाँ मधुर मंगल-गीतों को गातीं ।
वहाँ वधू मिलती वर से आँखें नीची कर
साँसें भरता पृथ्वी पर पड़ा खंडहर !

माताएँ शिशुओं को अपनी गोदी में भर !
खड़ी देखती रहतीं पथ की शोभा सुंदर ।
जाता उत्सव जहाँ मधुर मुरलियाँ बजा कर
साँसें भरता है पृथ्वी पर पड़ा खंडहर

झुकी हुई हैं वहाँ कुसुम छवि से बल्लरियाँ
छायाओं में पड़ी अलस लोचन सुंदरियाँ।
मधुप जा रहे गुन-गुन कर फूलों-फूलों पर
साँसें भरता है पृथ्वी पर पड़ा खंडहर।

उसने भी चाहा था जीवन-स्वर्ग बनाना।
मणि-दीपों से अपने उज्ज्वल कल सजाना।
गाना फूलों से अपनी अंजलियाँ भर-भर
कौन जानता था वह होगा एक खंडहर।

कहाँ गईं वे माताएं, वे बहिनें प्यारी
कहाँ गये शिशु वे जिनकी कोमल किलकारी
कर देती थी कोने-कोने में मुखर मनोहर?
स्तब्ध खड़ा वह आज धरा पर बना खंडहर

कहाँ गये वे युवक मधुर स्वप्नों से क्षण भर
जो उतरे थे उस में दीप प्रभाएँ लेकर?
चले गये जो उसका जीवन शाप बना कर
रोता धीरे अंधकार से भरा खंडहर!

कहाँ गये वे पुष्प, सुरभि जीवन की लेकर?
कहाँ उड़े वे विहग गीत-ध्वनियाँ ले सुंदर।
घिरा झाड़ियों से सुनता उलूक के घन स्वर
सोच रहा है विस्मित हो कर आज खंडहर?

उड़ी आह! कितनी जल्दी आशा जीवन की
दो ही पल में हँसी, व्यथा बन गई नयन की
इन्द्र धनुष से गिरा वज्र दारुण गर्जन कर
वह उज्ज्वल प्रासाद बन गया टूट खंडहर!

अब न प्यार करती हैं उसको रवि की किरणें
अब न हिलाती उसकी अलकें मधु की पवनें।
अब न बसंत हृदय छूता उसका गुन-गुन कर।
केवल साँसें भरता है वह दीन खंडहर!

अपने स्वप्नों की समाधि बन आज खड़ा है।
उसके सर पर कई युगों का शाप पड़ा है
डरता स्वयं आज अपनी ही छाँह देख कर।
साँस भर रहा है पृथ्वी पर खड़ा खंडहर॥

उस का भय मृत्यु की ओर उसे ढकेलने लगता है। वह देखता है, फूलों, झरनों, नदियों, पर्वतों की शोभा से भरी पृथ्वी पीछे छूटती जा रही है और वह ऐसे लोक में पहुँच रहा है जहाँ से घर बहुत दूर पड़ गया है, जहाँ चारों ओर से पहाड़ हैं, बर्फीले झरने हैं, नदियाँ हैं, फूल हैं, भँवरे हैं, कोमल दूर्वा है, पर हृदय का आनंद नहीं, जहाँ जीवन में काम करने वाले प्राणी नहीं, वरन् जीवन-यात्रा से थके पथिक ही आते हैं, जहाँ वनों की धूमिल नीरवता आँखों में धीरे-धीरे फैल कर अंगों में निद्रा की स्वप्नमयी ममता भर देती है, जहाँ झरनों के स्वर प्राणों को हर ले जाते हैं, जहाँ नदियाँ उल्टी अपने उद्गम की ओर लौटती हैं, जहाँ सौंदर्य ही धीरे-धीरे जीवन को पी जाता है—

मैं किस प्रदेश में आ पहुँचा! हैं चारों ओर खड़े पर्वत
जिनका हिम झरनों में झरता, जिनके प्राणों को झरनों का
संगीत मधुर मुखरित रखता!

जिनके नीचे सुंदर घाटी धानों से पीली पड़ी हुई
जिससे सुगंधि की मृदु लहरें मारुत में उड़ती निकल रहीं!
गिरि-वन से छूटी एक नदी घाटी में गाती घूम रही
आँखों में रवि का बिम्ब नचा अधरों पर धर-धर चूम रही।
निर्जन तट पर, फूलों से पद-पीली लतिकाएँ झुकी हुई,
भौंरों की गूँजों से हिलती, छवि शांत पवन में रुकी हुई!
मैं लता भवन में आ ठहरा, कोकिल मेरे ऊपर कूकी
फूलों से झर-झर सुरभि झरी, केसर से पीत हुई भ्रमरी
केसर से दूर्वा ढकी हरी!

कितना एकांत यहाँ पर है! मैं इसी कुंज में दूर्वा पर
लेटूंगा आज शांत होकर जीवन भर चल-चल अब थक कर!
ये पद जो गिरि पर सदा चढ़े, चोटी से घाटी में उतरे
सुनसान पर्वतों से होकर, घनघोर जंगलों में विचरे

ये पद विश्राम माँगते अब, इस हरी भरी धरती में आ
ये पद न थके जो अभी कभी, वे अब न सकेंगे पग भर जा !
मेरे अंगों में फैल रही है, निद्रा की स्वप्नमयी ममता
आँखों में भरती शनैः-शनैः विपिनों की धूमिल नीरवता ।
झरनों के स्वर प्राणों को हर ले जाते धीरे आज कहाँ
निर्जन शिखरों पर फूलों में नीरवता फैली हुई जहाँ
ले जाते पुष्प धरातल में बीजों के बीच मुझे-जिन पर
रक्खे न अभी आशाओं ने जीवन के रंग-विरंगे कर !
अपने उद्गम को लौट रही अब बहना छोड़ नदी मेरी ,
छोटे से अणु में डूब रही अब जीवन की पृथ्वी मेरी !
आँखों में सुख से पिघल पिघल ओंठों में स्मिति भरता भरता
मेरा जीवन धीरे-धीरे इस सुंदर घाटी में मरता !

इस सौंदर्य को देख कर उसे विश्वास होने लगता है कि उस का अन्त समय आ गया है—

अब मेरी आँखों में हँसते-हँसते
शशि की प्रिय मूर्ति न जागेगी ।
वन-वन से मेरे लिये हवा,
मधु ऋतु की गूँज न लावेगी ।
है आज समाप्ति दुःख-सुख की,
आखिरी सिसकियाँ ये मेरी
है यह पृथ्वी का अन्तिम दिन
आखिरी हिचकियाँ ये मेरी !

वह सोचता है अपनी स्थिति की कल्पना करता है—

मेरा शव घेर खड़े होंगे, जब कुछ परदेशी विस्मित हो ।
मैं कौन, यहाँ क्यों पड़ा हुआ, समझा न सकूँगा मैं उन को ।
फूलों के बीच जला मुझको, जब लौट चले वे जावेंगे ।
उर की कृतज्ञता से मेरे लोचन न पिघल तब पायेंगे ।

और अंत में कामना करता है—

जो शांति थकित को मिलती है
वह स्निग्ध शांति हो मेरी,

पवनों को सौरभ दे देकर
भ्रमरों को गूँजें पीकर कर
हँसने से थक गिर दूर्वा पर—
जो शांति कुसुम को मिलती है
वह स्निग्ध शांति हो मेरी !

इस के पश्चात् उसे 'महिष कंठ-किंकिणी' की गूंज सुनाई देने लगती है, आँखों में धूमकेतु और हाथ में कठिन पाश लिये, हृदय में कठोर शिला और मुख में अंधेरा रक्खे, अलकें फुफकारते महिषारूढ़ यम आते दिखाई देने लगते हैं, प्राणों में भैरव का भीम नाद आया देख कर, उस की काया सिहर उठती है। पर धीरे धीरे इस के स्मरण आने लगती है उसे मृत्यु-यातनाओं में प्रिय लगने लगती है वह इस का स्वागत कर 'यम' के हाथों अपने को सौंप, निश्चिन्त हो जाता है। 'यम' चिरंतन काल क्षिक की डरी हुई, उद्दीप्त कल्पना का एक सुंदर उदाहरण है। 'यम' का स्वरूप शास्त्रीय है, उन की वेष-भूषा व मुख मुद्रा कठोर है। वे धूमकेतु, पाश पाश, अंतहीन वाहिनी सहित, महिष पर आरूढ़ हो आ रहे हैं। निकट आने पर उन की महिष-कंठकिंकिणी की गूंज भी प्राणों को मूर्च्छित कर देने वाली होती है

सुनता हूँ गूँज रही महिष कंठ किंकिणी
मेरे उर देश में।
हे यम, मूर्छित हो पड़ी श्याम रजनी,
इस कराल वेष में !
आँखों में धूम्र केतु, कठिन पाश कर में,
महिष में चढ़े हुए
हृदय में कठोर शिला, मुख में अँधियारे
अलकें फुफकार रहे !
काँप रही चरणों में झिल-झिल धरणी,
सिहर रही काया,
भीम नाद प्राणों में भैरव का आया।

ऐसी शक्ति का विरोध करना तो निरी मूर्खता है अस्तु कवि अपने हृदय को समझाता —

छोड़ तुझे छिपी आज पृथ्वी तम गर्भ में,
उठ रे नादान हृदय !

पोंछ क्षीण लोचन जल, आज तू अकेला
तज रे जीवन भय !
छोड़ कम्प, बालक-मृग, भय, सिंह के नखों में—
डाल शीश अपना
भस्म हो नगण्य लोक, प्रलयंकर रुद्र की
पूरी कर वासना !
मृत्यु देव आये हैं, अतिथि बन तुम्हारे
करो शंख घोषणा !
महा अतिथि चरणों को जीवन दे पूजना !

यम देव आए हैं, घायल मरणासन्न उन का स्वागत कैसे करे ? उस के पास सिर्फ वाणी और विनय ही अवशिष्ट है। अतः वह कहता है—

एक फूल चुनने को, मुरझा मिट्टी का,
स्वयं आप आए !
एक पत्र करने को छेदन संसार से,
वज्र शिखा लाए !
करने को उदर-लीन एक क्षुद्र निर्झर !
महार्णव स्वयं चले !
करता जो सदा रहा आप की प्रतीक्षा,
उसे जीतने निकले—
लेकर घनघोर चंड प्रलय जलद-जाल सी,
अंतहीन वाहिनी !
क्यों यह दुर्दान्त महिष, झंझा विक्षुब्ध उदधि—
सा है घन गरज रहा ?
करने को पान, तप्त, जीवन का शोणित-घन,
क्यों यह उन्मत्त हुआ ?
गाता मैं आर्द्र कंठ स्वागत की रागिनी !

परंतु इन्हीं यम के हाथों तो अनेकों दग्ध हृदयों को शांति प्राप्त होती है, उन की पिंजड़े में फड़फड़ाती आत्माएँ बंधन—मुक्त हो कर नीलाकाश में उड़ने लगती हैं। भला इन से डर काहे का ?—

जीवन के तीव्र ताप से विदग्ध प्राण की—
शरण चरण आप के।
आशा की छलना से व्यर्थ भ्रमित जीवन की—
शांति, चरण आप के!
पा करके परस नाथ आपके करों का—
जीवन की क्षुद्रता,
बन जाती पारस से चुम्बित लोहे की,
हिरण्यमयी दृढ़ता,
उठ जाता ऊपर वह काम-क्रोध-मोह से,
जन्म-मरण-बंधन से,
जिसके हे नाथ आप प्राण-हरण करते!

उन के भीषण रुद्र-रूप के अंतर में तो माता का-सा करुण हृदय है—

ऊपर से रुद्र-रूप भीषण संहार मूर्ति,
अंतर जननी का!
हाथों में तीक्ष्ण अशनि, अंतर में करुणा
उमड़ती असीमा!
अंतर है देख लिया जिस ने प्रिय आप का!
उस को भय और कहाँ?

इस करुण हृदय को देख लेने के पश्चात कवि 'मृत्यु-देव' से कहता है—

मुझ को ले चलो मृत्यु चिर प्रकाश लोक में
अमरों के साथ जहाँ—
करते हैं सोम-पान पूर्व पुरुष मेरे!
देवता बने हुए!
जन्म-मरण चिन्तन से विमुक्त हुए!

और मान लेता है कि वह मर गया है और मरने के पश्चात् अपने जीवन के प्रति किये गये व्यवहार को भी देख रहा है। वह क्या देखता है कि लोग उस के शव को गंगा के तीर जलाने के लिये ले जा रहे हैं, कुछ उस के भाग्य पर रो रहे हैं, कुछ क्षणिक दार्शनिक बन गये हैं और कुछ ही समय पश्चात् उस की स्मृति भी कहीं दफ़ना दी गई—

मैं मर गया; चलो गंगा के तट पर मुझे जला आएँ
मैं मर गया, भाग्य पर मेरे आँसू चलो बहा आएँ।
तोड़ दिया मैंने जीवन से, भले-बुरे से नाता
मैं न रहा अब, चलो कहीं पर मेरी याद भुला आएँ।

इस प्रकार जीवन का अंत हो गया। मानों प्राणों ने मृत्यु पर विजय पा ली।

प्राणों की इस विजय के भव्य चित्र श्री चद्रकुँवर बर्त्वाल ने अपनी 'मृत्यु-विजय' शीर्षक कविता में उतारे हैं। उस के चार खंडों में मृत्यु की विभीषिका से संभूत श्मशान, धरणी, स्वर्ग-पथ और सुनसान गृह में चार विभिन्न प्रकार के वातावरणों की, सुंदरता से सृष्टि की गई है। श्रेय यह है कि चारों खंडों की भाषा, भावों के अनुकूल होते हुए भी एक प्रकार की अन्विति लिये है। यह सच है कि श्री चंद्रकुँवर बर्त्वाल की यह कविता संगीत की दृष्टि से उन के छोटे गीतों तथा दूसरी छोटी कविताओं से उतर कर है, भावोत्कर्ष भी उतना तीव्र नहीं, परन्तु चित्र और वातावरण की दृष्टि से तो संभवतः यह उन की सब से सुन्दर कविता है।

कविता में, पृथ्वी, आकाश और हृदय का सौन्दर्य दर्शनीय है, कवि वीर विजयी को आकाश में ले जाता है, किन्नरों की बालाओं के बीच पहुँचाता है, देव मन्दिरों और द्वार-द्वार के नृत्य को दिखलाता है, किन्तु पृथ्वी की ममता को नहीं भूलता। वीर विजयी, तारों के नीचे मलीन मन बैठी जननी पृथ्वी को देख ही लेता है, और उस के अस्फुट स्वर "चले गए तुम भी मेरे उर नंदन" सुन ही लेता है—

मृत्यु-विजय

१

कनक-मुकुट धर चिता, वीर विजयी मस्तक पर
नत नयना, कँपित हृदया लज्जा से जड़ कर
साहस कर बोली जाओ हे स्वर्ग प्रवासी
चरण चूम चिर विदा माँगती है यह दासी।

२

एक बार फिर धूम्र-पुंज से उठ कर ऊपर
देख हरित दूर्वाच्छादित सुरपुर पथ अम्बर
हँस विजयी ने फेरे पीछे अपने लोचन
देखी पर्वत के शृङ्गों पर बैठी जननी

उन्हें देखती हुई व्यथा बन कर शरीरिणी
देख जननि का व्यथा-म्लान मुख, जलमय आँखें
उमड़े धाराधार विजय-उत्फुल्ल दृगों से—
हे अभागिनी दुःखिनी धरणी, हे नर-जननी
अंतरिक्ष में फिरती हे दीना भिखारिणी
तुम सब की हो—किंतु कौन कब रहा तुम्हारा ?
गए पथिक जल पी कर
छाया में रह क्षण भर
निर्जन में तुम रहो अकेली ही जलधारा
तुमने मिट्टी के प्राणों का कर संचारण
अपनी साँसों से पाला जो नन्हा जीवन
जिसे पिलाती तुम अपना उर, क्षीर बना कर
देती जिसको जननि स्वर्ग से यौवन लाकर
वही स्नेह पालित शिशु तज कर तेरा आँगन
छोड़ एक कोने पर मिट्टी बूढ़ा यौवन
करता तुम को छोड़ स्वर्ग की ओर पलायन

३

आज स्वर्ग-पथ में—
ले मालाएँ खड़ी किन्नरों की बालाएँ,
तुम्हें देखती हुई पथ के दाएँ-बाएँ
(नव कुसुमों से झुकी हुई मसृण लतिकाएँ)
विपुल शंख को बजा स्वर्ग ने तेरा स्वागत,
किया, वायु, तृण-दल में होकर चरणों में नत,
ले कर रज, फिर लगा डोलने हो हर्षोन्मद
देव-दूत घिर-घिर आए करने को स्वागत।
आज स्वर्ग में देव-मंदिरों में प्रति घर-घर
होता उत्सव महा, तुम्हारी मृत्यु-विजय पर
बजती मधुर वंशियाँ, उन्मद वीणा झंकृत
होतीं, नूपुर होते हैं उन्माद से रणित !

४

मृत्यु लोक में—
आज क्षीण दीपक-प्रकाश अँधियाली रजनी,
केशों में ढाँप रो रही है जग-जननी,
शिथिल अंग, हत प्रभ आनन, रोते परिजन हैं,
करुणा के घन घूम-घूम करते वर्षण हैं!
तारों के नीचे बैठी पृथ्वी मलीन मन
कहती—"चले गये तुम भी मेरे उर-नंदन!"

हिन्दी के लिये ये भाव नये हैं, यह व्यंजना दर्शनीय है।

करुणा का विस्तार, व्यंग तथा भाव-साम्य

श्री चन्द्रकुँवर का काव्य-क्षेत्र मानव तक ही सीमित नहीं है। 'काफल-पाक्कू', कोयल, कुत्ता, कौआ, चींटी, गधा, गिलहरी इत्यादि पर भी उन्हों ने बड़ी सुंदर कविताएँ लिखी हैं। कुत्ता उन की उदार सहानुभूति की एक सुंदर उपज है। कुत्ते से उन्हें पूरी-पूरी सहानुभूति है। वह अविराम, जीवन से युद्ध कर के ही मरता है, जिन क्रूर परिस्थितियों और असाधारण दीवारों से भी अपनी समस्त भौतिक व मानसिक शक्ति लगा कर भी मनुष्य नहीं भिड़ सकता उन से भला वह नाचीज क्या जीत पाता! परंतु तारीफ़ इसलिये है कि 'छोटा-सा' कुत्ता भी सैनिक की तरह लड़ा है—

वह था एक श्रांत सैनिक सा, जो जीवन भर—
कर अविराम युद्ध जीवन से क्षत-विक्षत हो
अंत काल में लेट गया था शून्य मृत्यु के—
दीपहीन आँगन में, हार मान कर अपनी!

अंग्रेज कवि कीट्स् ने 'बुलबुल' को माध्यम ले कर सांसारिक यातनाओं का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है। 'कुत्ता'- ऐसी कविता महाकवि कीट्स् की शैली में अवश्य ही अवांतर (out of place) होती, अतएव श्री चन्द्रकुँवर ने केवल 'कुत्ता' के ही जीवन का एक पहलू चित्रित किया है—

.. ..उसने जीवन
ऐसा देखा था जिसको वह किसी भाँति भी
फिर न चाहता था पल भर भी कहीं देखना
भय न शेष था अब कोई निश्चल प्राणों में,
क्योंकि शेष आशा न कहीं थी, इसीलिये तो

मोटर के भोंपू सुनकर भी निर्भय होकर
पड़ा हुआ है वह जीवन से निर्भय होकर
गंध, दूर, खाने की मूँघ, लोभ से उसकी—
जीभ न अब टपकेगी, अब उसने जीवन में
विजय प्राप्त करली है,—रोटी के टुकड़ों के—
लिये, न मार सहेगा वह, सौ-सौ डंडों की।

इसके पश्चात् ही उस (कुत्ते) की दीन मृत्यु की ठेस पाकर जैसे कवि की उद्दात्त सहानुभूति फिर जागरित हो उठती है, पृथ्वी तो सब की माता है न ? फिर दीन दुखियों के साथ यह अन्याय क्यों ?—

ओ निष्ठुर पृथ्वी ! निर्बल था तो भी
वह था पुत्र तुम्हारा ही, तुम को ही अपनी—
जननि जानता आया था वह, इसीलिये तो
सह इतने अपमान, क्रूरता इतनी, फिर भी
आता था वह लौट तुम्हारे ही द्वारों पर !

इतना होते हुए भी पृथ्वी ने उसे दुत्कार दिया तो फिर उसकी सच्ची माता कौन है, जो मौत के समय भी उसका साथ दे रही है ?—

आज गोमती के तट पर, चुपचाप धूल में
लेट गया है वह, उसके माथे के ऊपर
मँडराते चमगादर; उसे घेर कर काली
रात सो गई है उसकी सच्ची माता-सी।

सच्ची माँ है—काली रात—विस्मृति, अचेतना, एक-एक अपारदर्शक आवरण, जिसे भेदकर, थकी आँखें दुःख-मूलक संसार की विकृति को नहीं देख सकती।

'गधा' शिष्ट व्यंगों का एक सुन्दर उदाहरण है। उसके आगे के दोनों पैर बँधे हुए हैं तो क्या हुआ ? वह तो मज़े से सावन की लम्बी-लम्बी दूब चबाता जा रहा है। उस की पीठ पर धोबिन की तगड़ी मार के निशान हैं, पर उसके मुख पर शांति विराज मान है, और बेवकूफी के प्यार के भाव भरे हैं। ऐसा है यह हिन्दुस्तानी गधा। घास खाते-खाते कभी वह मैदान में एकदम रुक जाता है, और ऋषि की तरह गंभीर होकर जीवन की उलझी गुत्थी को सुलझाने लगता है, और फिर यह सोचकर कि 'भई, सब माया है और गोविन्द के भजन के बिना सब व्यर्थ है, वह लंबे-चौड़े दुनियावी मैदान में 'हुआँ-हुआँ' कर रोने लगता है।

इसी प्रकार के गंभीर व्यंग का दूसरा उदाहरण 'चूहा-बिल्ली'[1] है, जिसमें सांप्रदायिक-संकीर्णताओं के संघर्ष को प्रतीकात्मक ढंग से कवि ने रक्खा है। कोई भी जागरूक पाठक प्रतीक के अर्थ को समझ व्यंग की तह तक पहुँच सकता है, किंतु समझ को सुला कर चलने वाले आलोचक को वह काव्य की 'सुंदर स्वस्थ संस्कृत' वस्तु न दीख कर 'विकृत व्यंजनामयी विचारधारा की अभिव्यक्ति' ही दिखलाई देती है। भारतीय-संस्कृति और राजनीति की सांप्रदायिकता, एक उभय सामान्य सत्ता के सामने दूसरे को नष्ट कर खा जाने की प्रार्थना करती है। दोनों को वरदान भी मिल-सा जाता है। देवता मनही मन हर्ष मनाते हैं, चूहे और बिल्ली जैसे वर्गों की मूर्खता पर यह सोचते हुए कि 'अब ए बेवकूफ़ एक दूसरे को काट खाकर स्वयं ही शक्तिहीन हो जायेंगे और हम देवता बने रहेंगे।

श्री चन्द्रकुँवर के व्यंग की झाँकियाँ 'नवीन कविता'[2], 'रावणदहन'[3], सौगंध'[4], 'मैकौले के खिलौने' आदि में तो देखी जा सकती हैं, किंतु सामाजिक और राजनैतिक विकारों पर ली हुई बड़ी सुँदर चुटकियों की झलक उनकी 'दो छतर मंजिल' कविता में देखने को मिलेगी। कवि अपनी कल्पना द्वारा भूत, भविष्य, और वर्तमान तीनों में वे रोक-टोक प्रवेश पा सकता है। उसके लिए छतरमंजिल की द्विरूप सत्ता है। एक ही चित्र के दो भिन्न पहलू हैं। ब्रिटिश राज्य के दो सौ सालों में सारा हिन्दुस्तान अँगरेज बन गया है।—

एक छतर मंजिल पैलेस गोमती किनारे
खड़े-खड़े अंगरेज बन गया अब पूरा।
उसकी फर्शों पर मेमों के बूट रात-दिन—
बजते रहते, उसके गुंबद-गुंजित करते
अब अंग्रेजी गीत, और अंग्रेजी हँसियाँ
और हरे लौनों पर अंग्रेज खिलाड़ी

---

[1]यह कविता 'कर्म-भूमि' में पहले छपी थी। 'विशाल-भारत' ने इसे 'कर्म-भूमि' से उद्धृत कर छापा था। 'विशाल-भारत' से गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश ने अपनी 'हिन्दी के वर्तमान कवि और उनकीकविता' में उद्धृत किया। कर्म-भूमि में कवि का नाम कुँवरसिंह वर्बाल छप गया था। विशाल भारत से होता हुआ वह गिरीश जी की पुस्तक में भी वैसा ही चला आया (पृ० ९०-९१)

[2]तरुण में प्रकाशित

[3]तरुण में प्रकाशित

[4]कर्मभूमि (लैन्सडौन) में प्रकाशित

रैकेट से गेंदों का बुनते जाल हवा में
लोहे के जंगले के बाहर खड़े सड़क में
साहब लोगों के टेनिस का खेल चाव से
डरते-डरते सदा देखते हिन्दुस्तानी।

परंतु गोमती की प्रसान्त लहरों में यह जो छाया-तन दूसरा छतरमंजिल सोया है वह अभी हिन्दुस्तानी ही है। वहाँ बाँदियों के ढोल-मृदंग के साथ, फर्श पर तरुणियों के नूपुर बजते हैं, मद्य के दौर चलते हैं। प्यालियाँ सोने की हैं, इत्यादि। पता नहीं इन दोनों छतरमंजिलों में से किसे सराहें।

हिन्दी-उर्दू का संघर्ष जिस उग्र सीमा को पहुँच गया है, उसका अच्छा ख़ाका चन्द्रकुँवर ने 'अल्लाह की ज़बान' शीर्षक कविता में खींचा है। देखिए—

१

पंडित जी बोले—'स्वर्ग लोक
में संस्कृत बोली जाती है'
मुल्ला जी बोले, अल्ला को
अरबी ज़बान ही भाती है।'

इस पर मचा भयानक शोर
होने लगी लड़ाई घोर
मुल्ला जी ने पकड़ी चोटी
पण्डित जी की मोटी-मोटी
और इधर पण्डित ने जी दाढ़ी
मुल्ला जी की नोची, झाड़ी!

एक पहर तक ज़ोर-शोर से
लड़ आखिर मर गए अभागे
और उसी दम खड़े हो गये
दोनों जा ईश्वर के आगे

पण्डित जी को आगे पा—
बोले अल्ला आँख नचा—
'कुल कुल ता कुल कुल-ए-क़लाम'
यह सुनकर होकर हैरान
बोले पण्डित जी, 'भगवान्,

बोल गये जाने क्या आप
कुछ न समझते अपने राम।'
यह सुन ग़ुस्से से हो लाल
बोले अल्लाह आँख निकाल—
'इस हराम के पकड़ो कान
दोज़ख़ के शोलों में भून—
भून निकालो इसकी जान।'
यह सुन आये चार फ़रिश्ते
चारों सिम्तों से ग़ुर्राते
चले गये दोज़ख़ बेचारे—
पण्डित जी रोते चिल्लाते

२

अब मुल्ला पर डाल निगाह
बोले ईश्वर भर कर आह—
'भो भो मुल्ला! त्वं ओम्! ओम्!'
यह सुन मुल्ला घबराये
खड़े रहे मुँह बाये
फूट सका न गले से स्वर
कैसे फिर देते उत्तर?
इस पर बोले श्री भगवान्
'क्यों चुप है तू पापी प्राण!
दीख रहा क्यों निश्चल मृत?
नहीं जानता क्या संस्कृत?'
यह सुन बोल उठे मुल्ला—
"काफ़िर की बोली अल्ला
क्यों पढ़ता मैं, बोलें आप?
मैं अरबी का हूँ विद्वान्
पूरा मुझ को याद क़ुरान
मुझ से अरबी बोलें आप।"

यह सुन ग़ुस्से से हैरान
बोले चिल्ला कर भगवान्
'रे पापी दढ़ियल शैतान !'
'इसे नरक में ले जाओ
इसे आग में तड़पाओ
कुत्ते और साँप सब काट—
काट निकालें इसकी जान ।'
यह सुन आए दो यम दूत
काले ज्यों मरघट के भूत
ईश्वर के ही आगे पहले
मुल्ला जी को जी भर पीट
नरक लोक को उन्हें ले चले
फिर वे दोनों खींच-घसीट
गए इस तरह दोनों जान
अल्लाह की है कौन ज़बान !

काव्य के संपूर्ण उपादानों में, जो सृष्टि के अमूर्त सौंदर्य को पुंजीभूत कर स्पष्ट करते हैं, अभिव्यंजना का स्थान सर्वश्रेष्ठ है । अपनी गंभीर वा व्यंगात्मक दोनों प्रकार की कविताओं में, श्री चन्द्रकँवर का कहने का ढंग कुछ ऐसा है कि उक्तियाँ हृदय पर सीधे असर करती हैं । भावों की नवीनता के कारण व्यंजना में भी नवीनता आ गई है । "मैं मर गया चलो गंगा के तट, वहाँ मुझे जला आयें; मैं मर गया चलो कहीं पर मेरी याद भुला आयें," इत्यादि छंदों के भाव तो हिन्दी के लिए एकदम नवीन हैं; इसी तरह "डूब रहा है शशि, यह बादल टपक रहा है; मरु देशों में प्यासा निर्झर भटक रहा है । भरे कंठों में प्राणों का कण अटक रहा है" और 'भागीरथी' को दी गई सांत्वना आदि-आदि में व्यंजना की भावना एक दर्शनीय वस्तु है । ग्रीष्म के संताप से सोच में पड़ी हुई भागीरथी को संबोधित कर कवि कहता है—

१

सोच मत कर ग्रीष्म को लख, हे सदय भागीरथी !
दीन हो सकता हिमालय, है नहीं, भागीरथी !
खो गई मरुभूमि में जो, आज प्यासी मर रही !
सोच उनका भाग्य तुम पाओ न भय भागीरथी !

२

पहुँच कर तट पर तुम्हारे निखिल जग की प्यास ले,
प्राण, प्यासे ही न लौटेंगे कभी भागीरथी,
कर तुम्हारे पुण्य दर्शन, छू तुम्हारे चरण पावन,
खो तुम्हीं में प्राण खोजेंगे निलय भागीरथी!
सोच मत कर ग्रीष्म.....।

संस्कृत सूक्तियों के हिन्दी अनुवाद में भी श्री चन्द्रकुँवर बर्त्वाल को वैसी ही अपूर्व सफलता मिली है जैसी अँगरेजी कविताओं तथा पाली कथाओं के हिन्दी अनुवाद करने में। संस्कृति की कई सूक्तियों को उन्होंने किस प्रकार काव्यमय बनाकर हिन्दी में उतारा है यह उनके "नहिं कल्काणकृत कश्चित्..." के अनुवाद से देखा जा सकता है।—

जिन पर मेघों के नयन गिरे
वे सब के सब हो गये हरे
पतझड़ का सुन करुण रुदन
जिसने उतार दे दिये वसन
उस पर निकले किशोर किशलय
कलियाँ निकलीं, निकला यौवन
सब के सुख से जो कली हँसी
उसकी साँसों में सुरभि बसी
सह स्वयं ज्येष्ठ की तीव्र तपन
जिसने अपने छायाश्रित जन—
के लिये बनाई सुखद मही;
लख उसे भरे नभ के लोचन
लख जिन्हें गगन के नयन भरे
वे सब के सब हो गये हरे!

श्री चन्द्रकुँवर में हो सकता है, दो एक जगह दूसरों के भाव आ गये हों, परंतु एक तो जहाँ युग-साम्य तथा परिस्थितियों के सादृश्य से इसका समाधान किया जा सकता है, वहाँ दूसरी ओर स्वयं चन्द्रकुँवर अपनी सफ़ाई बड़ी खूबी के साथ दे चुके हैं—

मिलें-मिलें मुझ में सरिताएँ
पर लहरें हों अपनी,
देश-देश की हों सरिताएँ
पर लहरें हों अपनी।

जिस कवि की इतनी विस्तृत भावनाएँ अपनी मौलिकता में फूलती-फलती हों वह अवश्य वंदनीय है।

—शंभुप्रसाद बहुगुना